संस्कृति

की

रूपरेखा

लेखक:—

प्रोफेसर पुरुषोत्तम चन्द्र जैन शास्त्री,

एम. ए., एम. ओ. एल.

पटियाला

प्रकाशक:—

प्रोफेसर पी. सी. जैन

पटियाला

विक्रम सं० २००८
ईस्वी सं० १९५१

मूल्य
५) रु०

जैन प्रिंटिंग प्रेस, अम्बाला शहर

पुस्तक मिलने का पता:—

मैनेजर

जैन प्रिंटिंग प्रेस,

अम्बाला सिटी

ला० दीपचन्द मोहन लाल जैन जौहरी

अदालत बाजार

पटियाला (पेप्सु)

प्रो. पी. सी. जैन एम. ए

स्टेडियम

पटियाला (पेप्सु)

मुद्रक:—

ला० रोशन लाल जी जैन

ला० बाबू राम जी जैन

जैन प्रिंटिंग प्रेस,

अम्बाला शहर।

समर्पण

श्रमण-संस्कृति के
पुजारियों के
कर कमलों
में

पुरुषोत्तम चन्द्र जैन

❧ नम्र निवेदन ☙

भारतीय इतिहास में, जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन दर्शन का कितना ऊँचा स्थान है यह किसी से छिपा नहीं है। जिस भौतिकवाद की भयानकता से तंग आकर आज विश्व के सभी राष्ट्र आध्यात्मिकवाद के सर्वोत्तम सन्देश 'विश्व शान्ति की स्थापना' के महत्त्व को समझने लगे हैं उस विश्व शान्ति के सन्देश को जैन धर्म अनादिकाल से देता आया है। जैन धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता निर्विवाद सिद्ध है। इस महान् धर्म के अहिंसावाद, कर्मवाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त सदा विश्व में इस की कीर्ति को प्रसारित करते रहेंगे। किन्तु समय का चक्र बड़ा विचित्र है। वह जैनधर्म जो कभी विश्वधर्म होने का दावा करता था, कुछ सदियों से अवनति की ओर जा रहा है और उस का प्रचार कम हो रहा है। इस का मूल कारण यही है कि जैन धर्म के अनुयायी अपने आदर्शधर्म के वास्तविक सिद्धान्त को न समझ कर पथभ्रष्ट होते जा रहे हैं। जैनदर्शन के सिद्धान्तों का महत्त्व उत्तरोत्तर केवल शास्त्रीय विभूति के रूप में ही रहता जाता है। जैन समाज के जीवन में उन

का व्यापक रूप में पालन लुप्त होता जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि समाज में सर्वत्र फूट, ईर्ष्या, कलह और मिथ्या प्रचार का साम्राज्य है। अनेकान्त-वाद के सिद्धान्त को तिलाञ्जली दी जा रही है। प्रेम और शान्ति के संदेश को ठुकराया जा रहा है। सम्प्रदाय-वाद के झूठे वितण्डावाद में धन का महान् अपव्यय किया जा रहा है और शिक्षा जो राष्ट्र और समाज के निर्माण के लिये परमावश्यक है, उस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इस के अतिरिक्त अवनति का एक कारण और भी है। जैन साहित्य को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि जैनधर्म किसी समय में विद्वानों का धर्म था किन्तु अहिंसा प्रधान धर्म होने के कारण इस के अनुयायियों ने न्यूनतम हिंसा वाले व्यापार व्यवसाय को अपनाया। व्यापार से लक्ष्मी का आगमन स्वाभाविक है और लक्ष्मी के चक्र में पड़ा हुआ मानव अपने धर्म और संस्कृति को भूल जाए या उस की उपेक्षा करदे यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। अस्तु, वर्त्तमान समय में जैनधर्म व्यापक रूप में व्यापारियों का धर्म ही रह गया है। जो भी कुछ जैन धर्म का प्रचार यत्र तत्र दृष्टि गोचर होता है उस का श्रेय जैनमुनि राजों को

जाता है। लोग जैन सन्तों पर मुख्या चीनी अवश्य करते हैं किन्तु मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि यदि जैन मुनिसन्तों ने जैन धर्म के प्रचार का भार अपने ऊपर न लिया होता तो जो भी जैन धर्म का प्रचार और जैनागमों का पठन पाठन आज दृष्टिगोचर होता है उस का भी अभाव होता। व्यापारी लोग जैन धर्म के वर्तमान प्रचार को भी कायम रखने में समर्थ न हो पाते।

अस्तु, जैनधर्म के प्रचार, सामान्य ज्ञान और सुधार को ही दृष्टि में रखकर 'श्रमण-संस्कृति की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ की रचना की गई है। श्रमण शब्द जैन और बौद्ध दोनों के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु यहां जैन से ही अभिप्राय है। संस्कृति शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश नहीं डाला गया है। जो कला आदि विषय अवशेष रह गए हैं उन पर दूसरे ग्रन्थ में प्रकाश डाला जाएगा।

पञ्जाब विभाजन के समय मुझे अपना पुस्तकालय लाहौर में ही छोड़ कर आना पड़ा। इस ग्रन्थ के कुछ अध्याय तो मैंने लाहौर में ही लिख डाले थे, शेष यहां आकर तैयार किये। यहां लिखते समय अभीष्ट सभी

ग्रन्थों की प्राप्ति के अभाव में बहुत स्थलों में मुझे अपनी स्मृति से ही काम लेना पड़ा। अतः बहुत संभव है कि कई स्थानों में उद्धरणों की तथा अन्य अशुद्धियां रह गई होंगी। आशा है विज्ञ पाठक मुझे उन के लिये क्षमा करेंगे और यदि उन के विषय में सूचित करने का कष्ट करेंगे तो मैं उन का बहुत ही कृतज्ञ हूंगा।

अन्त में मैं जैनधर्म के सुयोग्य विद्वान् श्री डाक्टर-बनारसीदास जी जैन एम. ए., पी. ऐच. डी. का बहुत २ धन्यवाद करता हूं जिन्हों ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ कर लाभ उठायेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

स्टेडियम, पटियाला — नम्रनिवेदकः—

३०—१—५१ — पुरुषोत्तम

भूमिका

प्रोफेसर पुरुषोत्तम चन्द्र जैन द्वारा रचित "श्रमण-संस्कृति की रूपरेखा" नामक ग्रन्थ को पढ़ कर मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। लेखक ने इस ग्रन्थ की नींव लाहौर में ही रखी थी और इस के कई अध्यायों के बारे में मुझ से चर्चा भी की थी। मेरी बड़ी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाए तो पाठकों को बड़ा लाभ होगा। अब इस ग्रन्थ को मुद्रित होते देख कर इस का परिचय कराने में मुझे बड़ा आनन्द होता है।

प्रो० पुरुषोत्तम चन्द्र जी जैन शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल. कुछ समय तक 'जैन विद्या भवन' लाहौर में मेरे साथ भी काम करते रहे। वहां इन को तुलनात्मक अनुसन्धान में बड़ी रुचि हो गई। फिर ये ऐचिसनकालेज लाहौर में प्रोफेसर हो गए और डाक्टर आफ फिलासफी की डिगरी प्राप्त करने के लिये शीलांकाचार्य कृत 'महापुरिस चरियं' पर थीसिस लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस निमित्त इन को जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वर जी म० मरुधर प्रान्तीय मन्त्री मुनिश्री छगन लाल जी म० तथा

मुनि श्री पुण्य विजय जी म० जैसे विद्वान् सन्तों की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु पंजाब विभाजन के कारण थीसिस का काम समाप्त नहीं हो सका।

उपर्युक्त कथन से भलीभांति विदित होता है कि श्री पुरुषोत्तम चन्द्र जी ने तुलनात्मक अनुसन्धान में पूर्ण योग्यता प्राप्त करने के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक विषय का विश्लेषण जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों के दृष्टिकोण से किया है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों भारत के महान् धर्मों की संस्कृतियां साथ २ चली आई हैं और तीनों में पारस्परिक प्रभाव पड़ता रहा है। बहुत सी बातों में जैन संस्कृति वैदिक और बौद्ध संस्कृति से प्रभावित हुई और बहुत सी बातें जैन संस्कृतिने वैदिक और बौद्ध संस्कृति को सिखाई। अतः जैन सस्कृति को पूर्णरूप से समझने के लिये वैदिक और बौद्ध सस्कृति का समझना परमावश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में जैनधर्म विषयक कई एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है जो इस के अध्याय शीर्षकों से ही प्रकट होता है। पुस्तक की रचना शैली प्रौढ़ होने के साथ २ सरल और सरस भी है। कर्ता ने अपने कथन की पुष्टि के लिये यत्र तत्र अनेक शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं।

इस के पढ़ने से जहां जैन संस्कृति का विद्वान् आनन्द ले सकता है वहां सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकता है।

देखने में आता है कि अजैन जनता में जैन धर्म के बारे में अनेक भ्रमभूलक धारणाएँ पाई जाती हैं, इस पुस्तक में बड़े रोचक ढङ्ग से उनका निराकरण किया गया है । पहला अध्याय पढ़ने से पता चलता है कि जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में लोगों के कैसे विचित्र और असत्य विचार हैं । श्री पुरुषोत्तम चन्द्र जी ने एक-एक को ले कर उन का खण्डन किया है । इसी प्रकार जैनधर्म और राजनीति, के प्रकरण में वैदिक राजनीति की अपेक्षा जैन राजनीति की विशेषताएँ बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से वर्णन की गई हैं। जैनी लोग अपने राजनैतिक स्वतन्त्र विधानों से प्रायः अपरिचित हैं। उन विधानों का दिग्दर्शन इस प्रकरण में कराया गया है। 'अनेकान्तवाद' और 'श्रमण–संस्कृति में ईश्वर का स्थान' इन अध्यायो में ग्रन्थ कर्ता की दार्शनिक विद्वत्ता का पता चलता है। दार्शनिक विश्लेषण के साथ २ कर्ता ने सामाजिक सुधार की दृष्टि नहीं खोई। यही बात अन्य अध्यायों की है।

लेखक ने जैन सङ्घ की वर्तमान दशा पर भी बड़ी स्पष्ट आलोचना की है। कहां इस का वह जाज्वल्यमान भूत और कहां आजकल की परिस्थिति। इस पर केवल आलोचना ही नहीं की गई बल्कि इसे सुधारने के उपाय भी बतलाए गए हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक जैन और जैनेतर दोनों के लिये बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होगी। जैन लोग तो इस को पढ़कर अपने धर्म की भूत और वर्तमान दशा को जान सकते हैं। जैनेतर लोग इस के पढ़ने से जैन धर्म विषयक असत्य धारणाओं को छोड़ कर उस का वास्तविक स्वरूप समझ सकेंगे।

पञ्जाबी विभाग,
पटियाला,
३०-१-५१

बनारसीदास जैन एम. ए.,
पी. एच. डी.
(निवृत्त प्रोफेसर पंजाब यूनिवर्सिटी)

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

शुद्धि—पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	यातुयाम	चातुर्याम
३	१७	'निर्वाणमासन्न' इत्यादि पाठ कल्पसूत्र की टीका का है। कल्पसूत्र का पाठ इस प्रकार है:—"उप्पिं संमेय सिहरंसि" पृ० २०८, श्रा० ७	
६	१६	इत्थीग्र	इत्थीणं
७	१०	प्राचन	प्राचीन
१६	१६	सारट्ठे	सोरट्ठे
२३	४	शास्त्रय	शास्त्रीय
२७	२	ग्रन्थां	ग्रन्थों
२८	१४	घुद्ध	बुद्ध
२६	२	राजाश्र	राजाश्रों
३०	३	स्मण	स्मरण
	८	ऋणदान	ऋणदाम
	६	विम्तारो	विस्तारो
,,	,,	बृदहन्नीति	बृहदर्हन्नीति
३२	१७	तापतैः	तापितैः
४२	६	दुष्टय	दुष्टस्य
,,	१८	बना	बिना
४६	१६	वव्यवस्था	वर्णव्यवस्था
,,	,,	सिद्धर्ण	सिद्ध
५३	१२	वए च	एव च
६३	१०	तवो विससो	तवो बिसेसा
७३	१२	नाराणाम्	नराणाम्
८१	२३	जन्माग्तर	जन्मान्तर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	६	बनन	जननी
६४	२१	आमी	आगामी
१००	८	वह	यह
११७	१३	मना	मारना
११८	५	मामा	मीमा
१२५	१२	उद्योग	जो उद्योग
,,	१८	चज	चीज
१३३	१६	भातीय	भारतीय
१४१	८	पचार	प्रचार
१५०	१६	जन	ज्ञान
१५७	२०	सहार	संहार
१६१	८	भूम	भूमि
१६२	३	समवान्त	समवन्ति
१६४	६	जवा	जीवा
१६६	३	कम ना	काम ना
१७३	२०	जा	जो
१७४	४	द्वेषांद	द्वेषादि
,,	१३	जवन	जीवन
,,	१४	भवान्	भगवान्
१८६	३	रौव	रौरव
१६२	४	आर	और
१६५	६	मनु य	मनुष्य
१६६	२१	मस्कृति	सस्कृति
२०१	१८	मार्गमर्तिभ्यः	मार्गवर्तिभ्यः
२०२	१६	द्विजम्मा	द्विजन्मा

॥ प्रीयतां भगवान् ऋषभश्रीः ॥

॥ जैन धर्म की प्राचीनता ॥

जैन धर्म की उत्पत्ति के लिये कोई समय विशेष निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह धर्म अनादि काल से भारत में चला आता है। बहुत समय तक तो कुछ भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस धर्म को बौद्ध धर्म की ही एक शाखा मानते रहे किन्तु अब तक जो साहित्यक गवेषणाएं हो चुकी हैं उनके आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन एक पृथक् धर्म है। कुछ समय तक तो कुछ विद्वान् यही मानते रहे कि महावीर महात्मा बुद्ध का ही दूसरा नाम है। इस के पश्चात् वे कुछ आगे बढ़े और उन्हों ने मान लिया कि महावीर स्वामी वास्तव में महात्मा बुद्ध से भिन्न व्यक्ति थे और उन्होंने ही जैन धर्म की नींव रखी थी। उन के पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व न था। विद्वानो ने कहा कि जैनधर्म को चलाने वाले महावीर स्वामी अवश्य ऐतिहासिक व्यक्ति थे किन्तु उन के साथ जो अन्य २३ तीर्थकरो का नाम लिया जाता है वे सब काल्पनिक व्यक्ति थे। अस्तु, समय की प्रगति के साथ २ विद्वान् लोग और भी आगे बढ़ते गए। बड़ी २ गवेषणाएं हुईं और बहुत ऐसी बातें जो पहिले असत्य और काल्पनिक समझी जाती थीं, सत्य रूप में प्रकट हुईं। अब तक हुई अनेक गवेषणाओं ने जैन धर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश डाला है।

जिस प्रकार वैदिक मन्तव्य के अनुसार परमात्मा इस सृष्टि को संहार के बाद 'यथा पूर्वमकल्पयत्' पूर्व को तरह पुनः निर्माण करता है और पूर्व की तरह फिर भगवान् अनेक अवतारो के रूप मे अवतरित होता है। इसी प्रकार जैन धर्म मे भी समय समय पर पूर्ववत् तीर्थंकर अवतार लेते रहते हैं और जैन धर्म के ज्ञान की सत्यता को प्रकट करते रहते हैं। यह चक्र इसी प्रकार निरंतर चलता रहता है। जैनधर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ स्वामी थे और अन्तिम दो श्री पार्श्व-नाथ जी और भगवान् महावीर जी। जैनधर्म की वैदिक धर्म से तुलना के साथ साथ इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि वैदिक धर्म संसार को आदि और अन्तवाला मानता है किन्तु जैन धर्म संसार को अनादि और अनन्त मानता है। अतएव जैन धर्म मे वैदिक सिद्धान्त की तरह सृष्टि की उत्पत्ति और संहार नहीं होते किन्तु सृष्टि का प्रवाह उसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा।

हा! जैसे कि पहिले लिखा जा चुका है कि पहले तो जैनधर्म को बौद्ध धर्म की शाखा माना जाता था फिर महावीर स्वामी को जैनधर्म का उत्पादक माना जाने लगा, किन्तु अबतक की खोज के परिणाम स्वरूप जैनों के २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी को भी ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा चुका है। उदाहरण के लिये महावीर स्वामी जी के पिता सिद्धार्थ कश्यप गोत्र के थे और ज्ञातृ क्षत्रिय थे। 'नायकुल चंदे' ऐसा कल्प सूत्र में भी पाठ आता है। महावीर स्वामी को उन के जीवन काल में भी लोग "ज्ञातृ पुत्र" के नाम से जानते थे। पाली में 'नात' ज्ञाति को ही कहते हैं। इस प्रकार "ज्ञातृ पुत्र" का अर्थ होता है "नात पुत्र"। "नाय पुत्र" और "नायपुत्त" की समानता प्रत्यक्ष है। बौद्धो के "सामाञ्ञफल सुत्त" में नात पुत्र के धर्म का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है:-

'यातुयाम संवर संवुत्तो'

इस में यातुयाम शब्द बड़ा ही सार गर्भित है। पाश्चात्य विद्वान् जैकोबी ने लिखा है कि यहां यातुयाम शब्द महावीर और २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ इन दोनों के सिद्धान्त प्रचार की भिन्नता दिखाता है। पार्श्व नाथ के समय चार ही महाव्रत थे। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और परिग्रह त्याग। ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत को तो महावीर स्वामी ने ही सम्मिलित किया अतएव पार्श्वनाथ का धर्म 'यातुयाम' और महावीर का 'पंचयाम' है। इस प्रकार 'पंचयाम' का प्रचार करने वाले भगवान् महावीर से भिन्न 'चातुयाम' के प्रचारक जैनधर्म के २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस के अतिरिक्त बंगाल का सम्मेत शिखर जो पार्श्वनाथ पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है जैनों के प्रधान तीर्थों में से एक है। भद्रबाहु रचित 'कल्प सूत्र' जिस का रचनाकाल ईसा पूर्व ३०० वर्ष करीब है उस में जो श्री पार्श्वनाथ जी के विषय में वर्णन आता है उस का एक उद्धरण इस प्रकार है:—

"निर्वाणमासन्न' संमेताद्रौ ययौ प्रभुः।
(कल्पसूत्र—पृष्ठ १६८)

अर्थात् निर्वाण के समय श्री पार्श्वनाथ प्रभु इसी संमेत शिखर पर आए और यहीं से मोक्षपद को प्राप्त हुए।

इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य विरचित "त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी:—

ज्ञात्वा निर्वाणमासन्नं संमेताद्रौ ययौ प्रभुः।
त्रयस्त्रिंशन्मुनि युतो मासं चनशनं व्यधात्॥
(त्रिष. श. पु. च. पृष्ठ २१६)

अर्थात् निर्वाण के समय श्री पार्श्वनाथ प्रभु संमेत शिखर पर आए। ३३ मुनि भी उन के साथ थे और उन्होंने वहाँ महीने का अनशन भी किया!

इस प्रकार के वर्णन प्रभु पार्श्वनाथ के विषय में शास्त्रो में यत्र तत्र उस ऐतिहासिक सत्य की पुष्टि करते हैं, जिस के आधार पर अबतक परंपरा से चले आते संमेत शिखर को पार्श्वनाथ पहाड़ी के नाम से पुकारा जाता है। इस तरह जैन धर्म के २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी स्वामी ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से पाठक यह न समझे कि श्री पार्श्वनाथ प्रभु ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो चुके हैं। इस कारण जैनधर्म का प्रारम्भ उन से ही समझना चाहिये। ऐसा समझना सत्य से दूर जाना होगा। भगवान् महावीर और श्री पार्श्वनाथ प्रभु इन दो अवतारों के अतिरिक्त अन्य २२ तीर्थंकरों के विषय में हम भले ही आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से महत्व रखने वाले प्रमाण देने में असमर्थ हों किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि वे वास्तव में काल्पनिक ही हैं। उन के जीवन के विषय में कुछ एक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन्हें महत्व दिया जाना चाहिये। मथुरा में कंकाली टीले की खुदाई से बहुत से जैनधर्म के प्रतीक अवशेष निकले हैं। इनका समय ईसा पूर्व २०० वर्ष है। यहां से जो शिलालेख मिले हैं उन में भक्तों ने अपनी श्रद्धाञ्जलि श्री ऋषभनाथ जी स्वामी को इस प्रकार दी है:—

प्रीयतां भगवान् ऋषभ श्रीः।

याद रहे कि ऋषभ स्वामी जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हैं। इस के अतिरिक्त प्रायः सभी शिलालेखों में "नमोअरिहंताण" आता है। जिसका अर्थ स्पष्ट है कि एक या दो नहीं किन्तु बहुत से तीर्थंकरों को श्रद्धाञ्जलि दी गई है। यदि भगवान् महावीर स्वामी या पार्श्वनाथ प्रभु से जैनधर्म का प्रारम्भ हुआ होता तो उन दोनों के या एक के नाम लिखकर ही श्रद्धाञ्जलियां दी होतीं। ऐसा न कर के आदि तीर्थंकर ऋषभ स्वामी का नाम शिलालेखों में आता है। जिन को श्रद्धाञ्जलि दी गई है और उनके अतिरिक्त बाकी के सब तीर्थंकरों को श्रद्धाञ्जलियां दी गई हैं। इस से यह स्पष्ट है कि श्री ऋषभ स्वामी से ले कर अन्य सब तीर्थंकर समय समय पर अवतार ले चुके हैं और उन सबके लिये ही कंकली टीले के शिलालेखों में श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की गई हैं।

निस्सन्देह हमारे पास ऐसे अकाट्य और वजनदार प्रमाण नहीं हैं, जिन के आधार पर चौबीस तीर्थंकरों को ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध कर दिया जाए, किन्तु जैसे २ उत्तरोत्तर खोज होती जायेगी और इतिहास पर प्रकाश पड़ता जायगा वैसे २ आज की काल्पनिक बातें सत्यरूप में मानी जाने लगेंगी। पहिले तो लोग जैन धर्म का बौद्ध धर्म से पृथक् अस्तित्व ही नहीं मानते थे किन्तु अब मानते हैं। पहिले तो लोग भगवान् महावीर स्वामी और पार्श्वनाथ प्रभु को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते थे, किन्तु अब सभी विद्वान् मानते हैं। भविष्य में जैसे ही प्रमाण मिलते जाएंगे, वैसे ही अन्य तीर्थंकरों को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया जायगा।

वैदिक धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद को कुछ विद्वान् ईसा पूर्व १२०० वर्ष मानते थे और कुछ २५०० वर्ष मानते थे किन्तु मोहन जोदड़ो नगर की खुदाई के बाद जो खोज हुई है उस के आधार पर

अब विद्वान् लोग ऋग्वेद को ३०००० वर्ष का पुराना मानने लगे हैं। इस प्रकार प्रमाण मिलने पर पूर्व के विचार रद्द होते रहते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य की खोज अवश्य ही तीर्थङ्करों के व्यक्तित्व पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालेगी।

हां यहां प्रसंगवश यह दर्शाना असंगत न होगा कि इतने प्राचीन ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में यत्र तत्र तीर्थङ्करों के नाम आते हैं। जैसे—

यात्कमश्वास ऋषभास उक्षणो वशामेषा अवसृष्टास आहुता।

ऋग्वेद १०/६१/१४

स नेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽस्मे स्वाहा।

यजु० ६ २५

ऋग्वेद और यजुर्वेद के इन दो मन्त्रों में जैनियो के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभ स्वामी और २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ का नाम आया है। इस से भी जैन धर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश पड़ता है।

इस के अतिरिक्त जैन धर्म का प्राचीनतम नाम "निग्गंठे पवयणे" अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन था जैन शब्द का प्रयोग तो संवत् १००० के लगभग प्रयोग में आने लगा। इस के पूर्व जैन शब्द का प्रयोग बहुत ही कम होता था। और इसके स्थान पर "निर्ग्रन्थ प्रवचन" का प्रयोग होता था। जैनागम भी इसी सत्य की पुष्टि करते हैं।

जैसे:—

"नयणं दाहामु तुमं नियंठा"।

उत्तराध्ययन अ० १२ श्लो० १६

"नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे"

उत्त० १६/२

इसी प्रकार आचारांग और कल्प सूत्रादि आगमों में भी निग्रन्थ शब्द जैन साधु साध्वियों के लिये ही प्रयोग मे आता है।

बौद्धों के धर्म ग्रन्थ "महापरि निब्बाण सुत्त" में निग्गंठ शब्द का प्रयोग किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी "निग्गंठ" शब्द आता है, जिस का अभिप्राय जैन साधुओं से ही है। बौद्धों के पिटकों में तो स्पष्ट बताया गया है 'निग्गंठ' बौद्धों के प्रतिद्वन्द्वी थे। इस से यह स्पष्ट है कि निग्गंठ बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन काल से चले आते थे, और वे समय २ पर बौद्ध धर्म का बड़ा विरोध करते रहे। इस प्रकार 'निग्गंठ' शब्द के प्रयोग से भी जैन धर्म भारत का बहुत प्राचीन धर्म सिद्ध होता है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से जो अवशेष निकले हैं वे भी जैनधर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। हड़प्पा से एक सील निकली है जिस का चित्र लाहौर के डाक्टर बनारसीदास जैन द्वारा सम्पादित "जैन विद्या" नामक त्रैमासिक पत्र के मुखपृष्ठ पर दिया गया है। हड़प्पा के इस अवशेष पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए एक योगी की मूर्ति है। ध्यान रहे कि तपश्चर्या की कायोत्सर्ग ध्यान की प्रथा जैन धर्म में ही परंपरा से चली आरही है। योगी की इस मूर्ति के सिर पर सर्पफण हैं; जिन की संख्या तीन दिखाई देती है। जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व-नाथ के सिर पर भी इसी प्रकार के सर्पफण पाए जाते हैं। यह मूर्ति पार्श्वनाथ की तो हो नहीं सकती क्योंकि उन को हुए तो करीब २७०० वर्ष हुए हैं। खोज करने वाले विद्वानों ने इस कायोत्सर्ग की मूर्ति वाली हड़प्पा की सील को ५००० वर्ष पुरानी माना है। अतः यह मुर्ति जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की ही होनी चाहिये। इस प्रकार

इस खोज से केवल जैनधर्म के बहुत प्राचीन होने का ही पता नहीं चलता किन्तु जैनियों के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के व्यक्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है। इस में कोई आश्चर्य नहीं कि भविष्य में और कुछ प्राचीन अवशेष मिल जायें, जिन के आधार पर पार्श्वनाथ की तरह सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया जाय। जिस प्रकार अब तक अतीत काल के अवशेषों ने भविष्य के इतिहास पर सत्य का प्रकाश डाला है और उसे उज्वल बनाया है, इसी प्रकार भविष्यमें भी होता रहेगा।

॥ द्राविड़ जाति में जैन धर्म ॥

कुछ भारतीय विद्वान् तो भारत को अनादिकाल से आर्यों का निवास स्थान मानते हैं किन्तु कुछ विद्वान् भाषा विज्ञान के आधार पर तथा अन्य कई ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आर्यों का बाहर से भारत में आगमन बताते हैं। आजतक हुई गवेषणा से यह स्पष्ट है कि आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यहां द्राविड़ जाति के लोग रहते थे। द्राविड़ जाति के तुर्वस, भृगु, द्रुह्यु आदि कई भेद थे। इतिहास से यह जाति भारत की प्राचीनतम जाति सिद्ध होती है। आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात् दोनों जातियों में काफी संघर्ष चलता रहा। वैदिक धर्म का अति प्राचीन धर्म ग्रन्थ ऋग्वेद इस की साक्षी देता है। उदाहरण के लिये सुदास के पिता दिवोदास ने यदु और तुर्वसों को हराया।

ऋग्वेद ८, ६१, २

कुछ काल पश्चात् दोनों जातियां शान्ति पूर्वक रहने लगीं। दोनों जातियों में विवाह सम्बन्ध भी होने लगे, और दोनों ने एक दूसरे के देवताओं को भी अपना लिया और उन की पूजा करने लगे। द्राविड़ लोग नाग पूजा करते थे। आर्यलोगों ने भी इसे अपनाया। आजकल भी जो नाग पंचमी का त्योहार चला आता है वह उसी प्राचीन प्रथा का प्रतीक है। द्राविड़ों ने आर्य जाति के विष्णु आदि देवों को मानना और पूजना प्रारम्भ कर दिया। भगवान् शंकर के गले में सर्पों की मालाएं शायद उसी द्राविड़ और आर्यों के पारस्परिक

संमिश्रण को प्रकट करतीं हैं। जैनों के सातवें और तेईसवें तीर्थंकरों के शिरों पर सर्पफण के चिन्हों का भी होना कुछ २ उसी प्राचीन सभ्यता की झलक हो सकता है। अपने २ धर्म ग्रन्थों के अनुसार हम भले ही इन चिन्हों का जैसा चाहें अर्थ कर लें किन्तु साथ २ चले आते धर्मों के पारस्परिक प्रभाव को छिपाया नहीं जा सकता।

द्राविड़ जाति के लोग जिन्हें आर्य अपना शत्रु मानते थे और अनार्य कह कर पुकारते थे अन्त में आर्य लोगों को प्रभावित करने में सफल हुए। यहां तक कि वे हिन्दू ही नहीं ब्राह्मण बन गये। किन्तु विशेषता यह रही कि ब्राह्मण बनकर भी वे द्राविड़ जाति से अलग नहीं हुए। द्राविड़ जाति का गौरव सदा उन के सामने रहता था। आर्य जाति के मूलपुरुष मनु को भी उन्हों ने द्राविड़ बना डाला। भागवत पुराण में लिखा है:—

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षि द्रविड़ेश्वरः।
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्॥

अर्थात् सत्यव्रत नाम का राजर्षि द्रविड़ राजा ही वैवस्वत मनु बनगया।

इस श्लोक में तो आर्यों की उत्पत्ति ही द्राविड़ों से होने का प्रयत्न किया गया है। जो सर्वथा असत्य है किन्तु तत्कालीन द्रविड़ों के व्यापक प्रभाव का इस से स्पष्ट पता चलता है। आर्य जाति शायद द्राविड़ लोगों को इतना प्रभावित न कर सकी जितना द्राविड़ो ने आर्य जाति को किया। सुयोग्य विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा जी वैदिक सम्पत्ति के पृष्ठ १७७ पर लिखते हैं कि रावण भी द्रविड़ राजा था और उस ने वेदों पर भाष्य लिखा था। हिंसामय यज्ञ, सुरापान, मांसभक्षण, व्यभिचार और लिंगपूजनादि सब दूषित बातें द्रविड़ों से ही आर्यों में आईं।

श्री मिश्रबन्धु जी भारत वर्ष के इतिहास भाग १ पृष्ठ ६८ पर लिखते हैं कि:—

"प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से इतना अनुमान होता है कि यह अनार्य लोग भूत, प्रेत, पर्वत और वृक्ष आदि को पूजते थे। आर्य मत से रुद्रकाली, आदि के पूजन-विधान तत्कालिक अनार्यमत की छाया से समझ पड़ते हैं।"

अस्तु, उपर्युक्त विवर्ण से यह स्पष्ट है कि द्रविड़ और आर्य जाति वा धर्मों में संघर्ष के पश्चात् मेल हो गया था और दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कौन सी प्रथा किसने किससे अपनाई क्योंकि धर्मग्रन्थों में जिस पाठ को विद्वानो का एक दल प्रक्षिप्त मानता है उसी को दूसरा दल मौलिक स्वीकार करता है।

जैन धर्म को हम भारत में अनादि काल से चला आता धर्म मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि जब द्राविड़ और आर्य जाति में संघर्ष चल रहा था और जब अन्त में दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया। उस समय जैन धर्मका भी अस्तित्व मिलता है या नहीं? अभी तक मेरे देखने में तो कोई ग्रन्थ नहीं आया, जिस में उस समय के जैन धर्मके इतिहास का पता चल सके। हां यत्र तत्र जैन और वैदिक धर्म के ग्रन्थों में कुछ उद्धरण अवश्य ऐसे आते हैं जिनमें हम तत्कालीन जैन धर्म के अस्तित्व का पता लगा सकते हैं। जैसे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का "दर्शन सार" नामक एक ग्रन्थ है। इस में बहुत से जैन संघों की स्थापना बताई गई है। दर्शनसार में लिखा है कि वज्र-नन्दी ने मथुरा में द्राविड़ संघ की स्थापना की। "श्री मूल" नामक मूल संघ की देव, नन्दी, सिंह, सेन नाम की चार शाखाएं हुईं, और

उन चारों में द्राविड़ संघ को स्थान नहीं मिला। वज्रनन्दी ने एक स्वतन्त्र ही द्राविड़ संघ की स्थापना की। एक विद्वान् ने तो द्राविड़ संघ को नन्दी संघ की ही शाखा माना है किन्तु मुझे उसकी युक्तियां संतोष जनक प्रतीत नहीं होतीं। आप लिखते हैं कि "अर्धवली ने मूल संघ को चार संघों में विभक्त किया और द्राविड़ संघ को उसमें नहीं रखा : यदि द्राविड़ सम्प्रदाय प्राचीन होता तो इन चारों मे अवश्य आता अतः यह बाद की स्थापना है।"

यह युक्ति कोई सारपूर्ण प्रतीत नहीं होती। हो सकता है कि श्री मूल संघ के साथ २ चले आते द्राविड़ संघ में कुछ सैद्धान्तिक मत भेद हों, जिन के कारण अर्धवली ने उसे अपने नवीन चार संघों में रखना उचित न समझा हो। अतएव चार संघों में द्राविड़ संघ का न रखा जाना उसकी प्राचीनता का बाधक नहीं है। अपने कथन की सिद्धि के लिये आप लिखते हैं कि "इरुंगुलान्वय जिस में बड़े २ जैन गुरु हुए हैं और जिस का द्राविड़ संघ से महा सम्बन्ध था वह भी नन्दी संघ का ही भेद था"। इरुंगुलान्वय को नन्दी संघ की शाखा मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु द्राविड़ संघ का इरुंगुलान्वय से सम्बन्ध मात्र उसे नन्दी संघ की शाखा किसी सूरत में सिद्ध नहीं कर सकता।

११६० ईस्वी के रिकार्ड में जो द्राविड़ संघ के अनुयायी भूत-बली, पुष्पदन्त, और समन्त भद्र आदि नाम आए हैं उन्हें द्राविड़ संघ के प्रचारक और उन्नति पथ पर लाने वाले मानना अधिक संगत मालूम होता है। द्राविड़ संघ से सम्बन्ध रखने वाले था उस के अनु-यायी भद्रबाहु जिनका स्वर्गारोहण काल वीर संवत् १७० है उनको केवल लेखक ने उनकी स्मृति बनाए रखने के लिये लिख दिया है। ऐसी

उपेक्षा करना भी नहीं जँचता। इस लिये द्राविड़ संघ को भी मूल से भी प्राचीन या उसके साथ २ चला आता संघ मानने में कोई बाधा मालूम नहीं देती।

इस प्रकार जैन धर्म में द्राविड़ संघ की स्थापना से यह भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि द्राविड़ जाति की भी कोई ऐसी शाखा अवश्य थी जो जैन धर्मावलम्बी थी। या दूसरे शब्दों में प्राचीन द्राविड़ जाति में जैनधर्म का अस्तित्व भी द्राविड़ संघ की स्थापना में कारण हो सकता है।

जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भी कुछ उदाहरण इस सत्य के पोषक हैं। जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभ स्वामी माने जाते हैं। भागवत् पुराण में ऋषभ को वैष्णवों का अवतार माना है और इस में वर्णित ऋषभ जीवन चरित्र जैन आदि तीर्थंकर से बिल्कुल मिलता जुलता है। इतनी समानता है कि कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ये दोनों वैदिक और जैन ऋषभ भिन्न हैं। भागवत् में ऋषभ के सौ पुत्रों के वर्णन में यह श्लोक आता है:—

कविर्हरि रन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिडश्चमसः करभाजनः॥

यहां द्रविड़ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। भगवान् ऋषभ स्वामी को हम आदि तीर्थंकर मानते हैं। उन के पुत्र का द्रविड़ नाम भी द्राविड़ जाति में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध करता है। यद्यपि भागवत् पुराण में इन राजकुमारों को भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बताया है किन्तु यहां उन्हें जैन दृष्टि से देखा जा रहा है। वैदिक और जैन धर्म का उस समय पारस्परिक संघर्ष होने के कारण एक दूसरे के सिद्धान्तों को परिवर्तित करना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म आर्यों के आगमन के पूर्व प्रचलित धर्मों में से एक है। आर्यों के आने के पश्चात् भी इस ने उन से बराबर टक्कर ली और अपने उच्च सिद्धान्तों के बलपर फिर आर्य धर्म भी बन गया। समय आने पर कई बार यह भारत का राजधर्म भी बना। इस के उत्कृष्ट सिद्धान्तों ने ही इसे वैदिक और बौद्ध जैसे परिपन्थियों में जीवित रखा। बुद्ध धर्म जैसे व्यापक राजधर्म भारत से लुप्तप्राय हो गए किन्तु जैनधर्म अपना अस्तित्व बनाये हुए है।
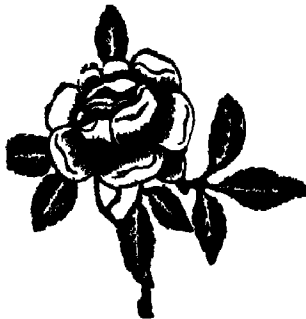
"श्वेताम्बर मत की प्राचीनता"

जब किसी समाज, धर्म या सम्प्रदाय में अनेक त्रुटियां तथा न्यूनताएं अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच जाती हैं तो उन्हें सुधारने के लिये किसी सुधारक महापुरुष का जन्म होता है और वह अपने दृष्टिकोण के अनुकूल किसी नये धर्म या सम्प्रदाय को जन्म देता है। इस प्रकार अनादिकाल से प्रवाह रूप संसार में समय, परिस्थिति तथा वातावरण के परिवर्तन के कारण अनेक धर्म और सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती रहती है। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थिरता उस के सिद्धान्तों पर निर्भर है। यदि उस के सिद्धान्त समयानुकूल हैं और समाज के लिये उपयोगी हैं। तो उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और स्थिरता निश्चित है। यदि उस के नियम समय विरुद्ध हैं तथा समाज को अवनति पथ पर लाने वाले हैं तो उन का अस्तित्व शीघ्र मिटने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यही कारण है कि संसार में आजतक सैंकड़ों ऐसे धर्म या सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जो अल्पकाल केलिये ही फले फूले और उत्तरोत्तर समय विरुद्ध होने के कारण वे ऐसे मिटते गए कि आज उन का नाम निशान भी नहीं रहा। जो समयानुकूल थे तथा जिनकी नींव सत्य और सन्मार्ग पर रखी हुई थी वे अनेक प्रतिरोधों का सामना करते हुए अबतक अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और संसार को उन्नत पथ की ओर ले जारहे हैं। जैनधर्म भी उन्हीं महान धर्मों में से एक है। इस में भी यद्यपि उत्तरोत्तर अनेक सम्प्रदाय बनते जाते हैं परन्तु वास्तव में परंपरा से चले आते इस के दो ही

सम्प्रदाय हैं। एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय और दूसरा दिगम्बर श्वेताम्बर का अर्थ है श्वेत वस्त्र धारी और दिगम्बर नग्न। इन दोनों में भी प्राचीनतर कौनसा है यह विषय विवादास्पद है। कई विद्वानों ने यत्र तत्र इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यह लेख भी इसी विषय पर प्रकाश डालने के हेतु लिखा गया है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि दिगम्बर सम्प्रदाय श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्राचीन है। कुछ विद्वानो के विचार से श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर सम्पदाय से प्राचीन है। दोनो मन्तव्य के लोग अपने २ दृष्टिकोण के अनुसार युक्तियाँ देते हैं। दोनों में सत्य कौन है इस विषय पर संक्षेप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शब्दो पर दृष्टि डालने से तो दिगम्बर ही प्राचीन मालूम होते हैं। जिस प्रकार प्रगतिवाद की दृष्टि से ग्रामीण सभ्यता नागरिक सभ्यता से प्राचीन ठहरती है क्योंकि नागरिक सभ्यता ग्रामीण सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास है। ठीक इसी प्रकार विकासवाद की दृष्टि से दिगम्बर नग्न पहिले होने चाहियें और श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारी बाद में। वस्त्र भूषणादि धारण करना ये नागरिक सभ्यता के चिन्ह हैं। वास्तविक विचार करने से उपयुक्त युक्ति सार गर्भित प्रतीत नहीं होती। उदाहरण के लिये संस्कृत और प्राकृत शब्दो पर दृष्टि डालिये। प्राकृत भाषासे स्वाभाविक भाषा और सस्कृत से संस्कार की हुई भाषा ये अर्थ प्रतीत होते हैं। इस से यह स्पष्ट ज्ञात होने लगता है कि प्राकृत प्राचीन भाषा है और संस्कृत बाद की किन्तु वास्तव में यह बात असत्य है। साहित्यिक दृष्टिसे संस्कृत के वेदादि ग्रन्थ बहुत प्राचीन ठहरते हैं और आजकल उपलब्ध प्राकृत साहित्य उन से बहुत पीछे का है। इस के अतिरिक्त 'प्रकृतिः संस्कृतम्–ततः आगतम्

प्राकृतम् इत्यादि प्रमाणिक' विद्वानों की निरुक्तियों से भी संस्कृत प्राचीन और प्राकृत पीछे की ठहरती है। ठीक इसी प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर शब्दों से दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता का अनुमान करना सत्य सिद्ध नहीं होता है।

मेरे एक मित्र ऋग्वेद का प्रमाण देकर दिगम्बर सम्प्रदाय को बहुत प्राचीन सिद्ध करते हैं। उन की यह धारणा है कि उनकी युक्ति बड़ी ही प्रबल है। ऋग्वेद में एक ऋचा है जो इस प्रकार है:—

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला। (१०/ १३६/ २)
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः। (१०/ १३६/ ६)

अर्थात्— 'ऐसे मुनि जिन की वायु ही कौपीन हो अर्थात् नग्न हो और शरीर पीली सी धूल में भरा हो।

केशिन् मैने, सिर पर बड़े २ केशों वाला मुनि। जो उस के भावों को समझता है उस का बड़ा ही प्रिय मित्र होता है।'

आप का कहना है कि ऋग्वेद में आया हुआ इस प्रकार का साधु का वर्णन जैन मुनियों का ही वर्णन हो सकता है क्योंकि जैन साधु पहिले नग्नावस्था में ही रहते थे। मेरे विचार में यह कल्पना भी कोई सार पूर्ण प्रतीत नहीं होती। जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म में नग्न साधु नहीं होते थे इस में कोई सत्य नहीं है। ऋग्वेद वैदिक सम्प्रदाय का प्राचीनतम एक प्रमाणिक और महत्वप्रद ग्रन्थ है। वैदिक सम्प्रदाय में भी नग्न साधु बड़े प्राचीन काल से चले आते हैं और आजकल भी वहां उन की संख्या सहस्रों में है वहां जैन दिगम्बर साधुओं की संख्या सारे भारतवर्ष में केवल चौदह पन्द्रह तक ही

सीमित है। इस के अतिरिक्त वेद मन्त्रों में जो केशिन् शब्द आया है। वह भी ध्यान देने योग्य है ! केशिन् का अर्थ है लम्बे २ बालों वाला। वास्तव में लम्बी २ जटाओं को धारण करने वाले जिन्हें हम आज भी महती संख्या में भारत के कई प्रदेशों में पाते हैं वैदिक सम्प्रदाय के ही साधु होने चाहिये, दिगम्बर जैन के नहीं। दिगम्बर साधु विशाल केश धारी नहीं पाए जाते। अतः ऋग्वेद के मन्त्र से यह निर्णय करना कि श्वेताम्बर से दिगम्बर प्राचीन हैं सम्भव नहीं हो सकता !

वर्तमान जैनधर्म के लिये जो "जैन" शब्द प्रचलित है इस का प्रयोग भगवान् महावीर स्वामी के बाद में प्रयोग में आने लगा है। इस के पूर्व 'तीर्थंकर धर्म' को "निग्गंठे पवयणे" अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। महाराज अशोक के शिलालेखों में भी यत्र तत्र 'निग्गंठ' शब्द का प्रयोग आता है। वहां 'निग्गंठ' से अभिप्राय जैन धर्म से ही है। कुछ विद्वान् निर्ग्रन्थ का अर्थ वस्त्र रहित करते हैं और उससे यह सिद्ध करते हैं कि अशोक के समय में जो जैनधर्म प्रचलित था वह दिगम्बर जैन था क्योंकि दिगम्बर जैनियों की ही मूर्तियां तथा साधु नग्न पाए जाते हैं। इस प्रकार वे 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्याख्या से दिगम्बर सम्प्रदाय को श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मेरे विचार से 'निर्ग्रन्थ, शब्द का अर्थ उन्होंने ठीक नहीं समझा। 'निर्ग्रन्थ' शब्द में "ग्रन्थि" शब्द का अर्थ वास्तव में राग द्वेषादि बन्धन करना ही उचित जान पड़ता है। आत्मा को बन्धन में डालने वाले वास्तव में राग द्वेष ही हैं न कि बाह्योपकरण रूप वस्त्रादि। वस्त्रादि बाह्य परिग्रह को धारण करने वाले शरीर में स्थित आत्मा यदि रागद्वेष आदि से मुक्त हो जाय तो उसे ग्रन्थि रहित समझना चाहिये। आध्यात्मिक मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है जिस के द्वारा रागद्वेषादि

शत्रुओं का नाश होता है। वस्त्रादि बाह्योपकरण आत्म धर्म में किसी प्रकार की भी बाधा नहीं डाल सकते। क्या वस्त्रादि बाह्योपकरणों से दूर रहने मात्र से आत्मा कभी रागादि दोषों से मुक्त हो सकता है? आजकल भी हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां वस्त्रादि बाह्योपकरणों के सद्भाव में भी पवित्रात्माएं मिलती हैं और इस के विपरीत बाह्योपकरणों से हीन शरीरों में रागद्वेषादि से मलिन आत्माएं वर्तमान हैं। अतः आत्म धर्म में बाधक शत्रु का अभाव हो सकता है वस्त्रादि का सद्भाव या अभाव इस के लिये अपेक्षित नहीं। कितने आश्चर्य की बात है कि आज विकासवाद के युग में भी कितने ही समझदार पुरुष इन बातों को इतना महत्व देते हैं। अस्तु, मेरे विचार से 'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ रागद्वेषादि बन्धन मुक्त करना ही संगत है। इस प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द के आधार पर दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता सिद्ध नहीं हो पाती।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार नाम का एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक श्लोक आता है जिस के आधार पर कुछ विद्वानों ने दिगम्बर मत को श्वेताम्बर मत से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम संवत् ९०९ है। वह श्लोक इस प्रकार है :—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥ श्लोक ११।

अर्थात् विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वल्लभी पुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

इस से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि विक्रम की सदी में ही श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई और उस

से पूर्व दिगम्बर संप्रदाय ही परंपरा से चला आता था। मेरे विचार से उपर्युक्त दर्शनसार का उदाहरण कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि इस प्रकार का एक उदाहरण श्वेतांबर ग्रन्थों में भी आता है। वह गाथा इस प्रकार है:—

छव्वास सः स्सेहिं नवुत्तरेहिं सिद्धिंगयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाए दिट्ठी रहवीर पुरे समुपन्ना ॥

अर्थात्— वीर भगवान् के मुक्त होने के ६०९ वर्ष पश्चात् बोडिको अर्थात् दिगम्बरों का प्रवर्तक रथवी पुर में पैदा हुआ।

इस के अतिरिक्त दर्शनसार के उदाहरण के आधार पर यदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् मान ली जाए तो एक बड़ी अड़चन सामने आती है। महाराज अशोक के पश्चात् कलिङ्गाधिपति खार्वेल बना। वह जैन सम्राट था। उदयगिरि और खण्डगिरि स्थित हस्तिगुफा नामक गुफा से जो खार्वेल का शिलालेख मिला है उस का सुयोग्य विद्वान् श्री के० पी० जयसवाल ने विवर्ण दिया है। इस लेख का समय ईस्वीसन् से १७० वर्ष पूर्व निश्चित् किया है। सम्राट खार्वेल किस प्रकार जैन साधुओं को अनेक प्रकार के कौशेय और श्वेतवस्त्र बांटा करते थे इसका इस शिलालेख में बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। यदि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई होती तो खार्वेल का ईसा पूर्व १७० में जैन साधुओं को श्वेत् तथा पट्ट वस्त्र बांटना कैसे संगत हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि दर्शनसार की गाथा दिगम्बर मत की प्राचीनता को सिद्ध नहीं करती।

संसार में जितने भी उच्चकोटि के धर्म हैं प्रायः सब अध्यात्मिक दृष्टि से पुरुष और स्त्री को समान अधीकारी समझते हैं। सब धर्मों के

प्राचीन प्रमाणिक ग्रन्थों में पुरुष और स्त्री दोनों को ज्ञान के समान अधिकारी माना है। गत विश्व युद्ध से भी यह स्पष्ट है कि महिला एं जीवन क्षेत्र के किसी भी विभाग में पुरुषों से न्यून नहीं रही हैं। साहित्य, विज्ञान और राजनीति आदि क्षेत्रों में स्त्रियों ने ऐसी प्रवीणता दिखाई है जिसे किसी भी अंश में पुरुषों से कम नहीं कहा जा सकता। यद्यपि हमारे देश में स्त्री जाति को अबला जाति अथवा निर्बल जाति के नाम से पुकारा जाता है किन्तु संसार के इतिहास में स्त्री जाति के ऐसे वीरता के कारनामें मिलते हैं जिन के सामने पुरुष को भी सिर झुकाना पड़ता है। भारत के अति प्राचीन धर्म ग्रन्थों से भी यह स्पष्ट है कि स्त्री के पुरुष के समान ही अधिकार थे। यहां तक कि यज्ञ में भी पत्नी के बिना पति दीक्षित न हो सकता था। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तो सीता के अभाव में उस को स्वर्णमयी मूर्ति बना कर रखनी पड़ी। गार्गी की विद्वत्ता से विद्वान भली भान्ति परिचित हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म ग्रन्थों में स्त्री का स्थान कर्मकाण्ड तथा ज्ञानादि क्षेत्रों में समान है। प्राचीन उपलब्ध शिलालेखों ताड़ पत्र लिखित ग्रन्थों और सिक्कों आदि के आधार पर जो गवेषणा हुई है उस से यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म अनेक सदियों से भारत का व्यापक धर्म रहा है। इतने महान् और व्यापक धर्म के साथ २ चलना और अपना संघर्षमय जीवन बिताना एक ऐसे ही धर्म के लिये सम्भव हो सकता है जिस के सिद्धान्त या तो अपने प्रतिद्वन्दी के मुकाबले के हों या किसी दृष्टि में उस से भी उत्कृष्टता रखते हों। मेरे विचार में यदि जैन धर्म प्राचीन काल में स्त्री को ज्ञानक्षेत्र में पुरुष के समान अधिकारिणी न मानता तो वैदिक विद्वान् उसकी ऐसी खिल्ली उड़ाते और उसका ऐसा खण्डन करते कि आज उसका अस्तित्व भी शायद कठिनता से रह पाता।

समय परिवर्तन के साथ २ संसार की परिस्थिति बदला बदलती रहती है। जो जाति, धर्म या सम्प्रदाय अपने को समय के अनुकूल बना लेता है वही अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। जिस में समयानुकूल परिवर्तित होने की शक्ति नहीं है उसका मिट जाना स्वाभाविक है। किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज के वैज्ञानिक और विकासवाद के युग में भी कितने पठित व्यक्ति भी पुरानी अन्धपरम्परा के रोग से मुक्त नहीं हो पाए हैं। अस्तु, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म में भी स्त्री को पुरुष के समान ही ज्ञान की अधिकारिणी माना है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनेक साध्वियें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

जैन धर्म के सिद्धान्त बड़े विशाल और महत्वपूर्ण हैं। जैन धर्म मनुष्य मात्र को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो मोक्ष का अधिकारी मानता है। जैन धर्म की विशालता देखने के लिये श्री हेमचन्द्राचार्य का अधोलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है। जब आचार्य श्री वैदिक मत के देवता भगवान् सोमनाथ के मन्दिर के सामने आए तो उन्हों ने कहा —

> भवबीजांकुर जननाः रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात्—संसार में उत्पत्ति के मूल कारण रागादि जिसके नष्ट हो गए हैं ऐसा देवता चाहे उसका नाम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो उसको मैं नमस्कार करता हूं। इतनी विशालता रखने वाला जैन धर्म स्त्री की मुक्ति की अधिकारिणी न मानता यह संभव नहीं। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी न मानने वाला दिगम्बर मत बाद का है और श्वेताम्बर जैन उस से प्राचीन है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि वीर निर्वाण संवत् ६८० (विक्रम संवत् ५१०) के आस पास जैन संघ वल्लभीपुर में देवर्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में एकत्रित हुआ। अब तक जो शास्त्र व ज्ञान प्राचीन परम्परा से चला आ रहा था उस का कई कारणों से लोप होना भी प्रारम्भ हो गया था। उस का विस्तार रूप से फैलाव सर्वथा संभव न था। अतः संघ का ध्यान इस ओर गया कि आगम और अन्य साहित्य को एकत्र ग्रथित करना परमावश्यक है। ऐसा करने से यह ज्ञान भविष्य के लिये सुचारु रूप से सुरक्षित भी रह सकता था और इस का सार्वत्रिक प्रचार भी पूर्ण रूप से हो सकता था। अतः संघ की अनुमति से बिखरे हुए आगम तथा अन्य साहित्यिक ज्ञान को एकत्र ग्रथित किया गया।

दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य इस साहित्यके बहुत पश्चात् लिखा गया है। यह निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मन्तव्य के अनुसार जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से आए पश्चात् इन्द्र की आज्ञा से हरिनेगमेषी देवता ने उन्हें क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में रखा। यह वर्णन कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में आता है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन पढ़ना हो तो पाठक कल्पसूत्र में पढ़ सकते हैं। दिगम्बर संप्रदाय के ग्रन्थों में इस प्रकार की घटना का कहीं उल्लेख नहीं और न ही दिगंबर लोग इस बात को मानते ही हैं। श्वेतांबरों के मत की प्रामाणिकता के लिये मथुरा के कंकाली टीले से एक शिला मिली है जिस पर भगवान् महावीर स्वामी के गर्भ हरण का बड़ा सुंदर चित्र खुदा हुआ है। लिपि तत्व के धुरंधर विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह शिला लेख ईस्वी सन् से एक शताब्दी पहले का खुदा हुआ है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्वेतांबर साहित्य की प्राचीनता भी श्वेतांबर सम्प्रदाय की प्राचीनता पर बड़ा

प्रकाश डालती है। उपर्युक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि विक्रम संवत ५१० के लगभग वल्लभी पुर में जिस ज्ञान को ग्रथित किया गया था वह प्राचीन परंपरा से चला आता ज्ञान है। अतः साहित्यिक दृष्टि से भी श्वेतांबर सम्प्रदाय दिगंबर संप्रदाय से प्राचीन ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार दिगंबर शब्द के अर्थ से ऋग्वेद की ऋचा से, निर्ग्रन्थ शब्द की परिभाषा से, दर्शन सार के उद्धरण से और साहित्यक दृष्टि से तो श्वेतांबर सम्प्रदाय से दिगंबर संप्रदाय प्राचीन नहीं ठहरता। श्वेतांबर ही दिगंबर से प्राचीन सिद्ध होता है। हां, भविष्य में होने वाली नई गवेषणाओं से यदि दिगंबरों की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले और नए कुछ प्रमाण मिल जाएं तो दूसरी बात है। यह लेख केवल गवेषणात्मक दृष्टि से लिखा है, सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं। यदि अब भी ऐसे अकाट्य प्रमाण मिल सकें जिनसे दिगंबर श्वेतांबरों से अधिक प्राचीन सिद्ध होते हों तो भी मेरे लिये कम प्रसन्नता की बात नहीं।

जैन धर्म और राजनीति

वैदिक, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म बहुत प्राचीन काल से साथ २ चले आते हैं। यों तो तीनों धर्मों के आचार्यों ने 'अहिंसा-परमोधर्मः' अर्थात् अहिंसा ही मानव का महान् धर्म है इस सिद्धान्त को अपने २ दृष्टिकोण से उचित स्थान दिया है किन्तु जैन धर्म में अहिंसा का सिद्धान्त अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका है। अहिंसा का अतिरूप चाहे आजकल के समय के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल उस से यहां कोई मतलब नहीं है। मैं यह बात अवश्य दावे के साथ कह सकता हूं कि अहिंसा का वास्तविक, तात्विक या शुद्ध स्वरूप देखना हो तो जैन धर्म में ही मिल सकता है। जैनधर्म में हिंसा दो प्रकार की मानी गई है, द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। द्रव्यहिंसा का सामान्य अर्थ है किसी जीव को प्राणों से वियुक्त करना या दूसरे शब्दों में उसे मारना। भावहिंसा वह होती है जिस में विचार से किसी जीव का अनिष्ट किया जाता है। द्रव्यहिंसा का निषेध तो अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों में भी अपने २ दृष्टिकोण से उचित रूप से ही किया गया है किन्तु भाव हिंसा को जितना महत्त्वप्रद स्थान जैन धर्म ग्रन्थों में दिया है उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जैन शास्त्रों में भाव-हिंसा का सूक्ष्मस्वरूप नीचे दिये उदाहरण से पाठकों को स्पष्ट हो जाएगा।

विक्रम् की ११ वीं शताब्दी में गुर्जर प्रान्त के पाटन नगर में राजा कुमार पाल राज्य करता था। पहिले वह कुल परंपरागत वैष्णव धर्म

का अनुयायी था और बाद में उस ने तत्कालीन प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव में आकर जैनधर्म को स्वीकार किय। जैनाचार्य ने राजा कुमारपाल को जैनधर्म की भली भांति शिक्षा द और उस से मांसाहार का त्याग करवाया। वह जैनधर्म के सिद्धान्तो से इतना प्रभावित हो गया था कि वह वास्तव में अपना जीवन उन के अनुकूल ही बनाने लग गया था। एक दिन वह बड़ा उदास मन होकर गुरुदेव के चरणों में आया और प्रायश्चित की प्रार्थना करने लगा। गुरुदेव ने पूछाः– प्रायश्चित कौन से अपराध के लिये करना चाहते हो? राजा कुमार पाल ने कहा कि आज मैंने अपने आहार में टिंगरी या खुम्बों की सब्जी खाई। उस टिंगरी की सब्जी को दांतों से चबा रहा था तो मुझे पूर्वअनुभूत मांस का सा स्वाद आने लगा और मेरी रुचि परित्यक्त मांस की ओर गई। अतः यह मानसिक या भाव-हिंसा थी। और मैं उस के निवारण के लिये प्रायश्चित करना चाहता हू। आचार्य ने कहाः– हां इस प्रकार की भावमयी या मानसिक हिंसा के लिये अवश्य प्रायश्चित करना होगा। और इस का प्रायश्चित यही है कि तुम एक पत्थर का टुकड़ा लेकर स्वयं अपने हाथ से अपने दांतों को तोड़ डालो। आज्ञा पाते ही कुमारपाल ने झट दांतों को तोड़ने के लिये पत्थर उठाया किन्तु वह प्रहार करने को ही था कि गुरुदेव श्री ने झट उसका हाथ पकड़ लिया और कहा:– प्रायश्चित हो गया है। तुम ने वास्तविक हिंसा या द्रव्य रूप हिंसा नहीं की किन्तु भाव रूप में की थी। अब तुम ने अपने दांतों को तोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया है अतएव इस भावमयी अहिंसा से उस भावहिंसा का निवारण हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरण से पाठकों को भली भान्ति स्पष्ट हो गया होगा कि जैनधर्म में अहिंसा कितनी चरम सीमा तक पहुंची हुई है।

द्रव्य हिंसा के तो अनेक सुन्दर उदाहरण आप को वैदिक और बौद्ध धर्म ग्रन्थों में भी मिल जायगे किन्तु भाव हिंसा के इस प्रकार के उदाहरण अत्यन्त कम ही देखने में आते हैं। जैन धर्म मन, वाणी, और कर्म इन तीनों से हिंसा के परित्याग की शिक्षा देता है।

जैन धर्म में "अहिंसा परमो धर्मः" के सिद्धान्त को क्रियारूप में देखकर कई लोगों के मन में ये शंकाएं उठा करती हैं कि यदि जैनियों के हाथ में किसी देश का राज्य सौंप दिया जाए तो निस्संदेह वहाँ अराजकता के सिवाय और क्या हो सकता है। जो लोग कीड़ी को मारना पाप समझते हैं वे दंड प्रधान राज्य को कैसे चला सकते हैं। जैनी राजा किसी प्रकार की भी हिंसा करने के लिये तैयार न होगा और राज्य का चलाना हिंसा के बिना सर्वथा असंभव है। प्रजा में चोर, लुटेरे; धूर्त, और आततायियों का कुछ संख्या में होना स्वभाविक है और उन को दबाने केलिये हिंसा का आश्रय भी अनिवार्य है। इस के अतिरिक्त कोई बलवत्तर विदेशी राजा यदि चढ़ाई कर दे तो वह सहज ही में जैन राजा को अपना गुलाम बना सकता है और साथ २ उस की प्रजा को भी। जैनी राजा कभी भी हिंसा के भय से शत्रु से युद्ध करना पसंद न करेगा। हिंसा से वह परतन्त्रता को अच्छी समझेगा इस लिये जैनधर्म कायरों का धर्म है। भारत वर्ष में इस धर्म के अनुयायी भी प्रायः बनिये या वैश्य हैं। वैश्य जाति कभी भी वीरता के लिये प्रसिद्ध नहीं रही उल्टा कायरता का कोई दृष्टान्त देना हो तो ज़रूर लोग वैश्य जाति से देते हैं।

इस प्रकार के विचार रखने वाले सज्जनों के लिये सर्व प्रथम मैं यह बताना चाहता हूं कि जैन धर्म अनन्त परंपरा से वास्तव में क्षत्रियों का ही धर्म रहा है। यही कारण है कि जैन धर्म में क्षत्रिय

वर्ण को ही सब से बड़ा वर्ण माना है। जैन धर्म के तीर्थंकर भी क्षत्रिय वर्ण में ही अवतरित होते रहे हैं। जैसे २ जैन धर्मावलम्बियों पर अहिंसा के सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ता गया वे अन्य कृषि आदि कर्मों को छोड़ कर वाणिज्य की ओर झुकते गए क्योंकि वाणिज्य में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा हिंसा कम होती है। वाणिज्य के प्रभाव से वे बड़ी संख्या में पूंजीपति बनते गए। पूंजी के प्रभाव से उनमें विलास प्रियता भी आ गई और विलास प्रियता के आने से जैसा अकसर लक्ष्मी का प्रभाव होता है उनसे वीरता के भाव भी नष्ट होने लग गए। इस प्रकार कई सदियों के निरन्तर वाणिज्य व्यवसाय के प्रभाव के परिणाम स्वरूप आज वे शुद्ध वैश्यों के रूप में हमारे सामने वर्तमान हैं। अतः आज की जैन समाज में यदि वीरता के अंश की कमी है तो उसके लिये जैन धर्म को या जैन धर्म के सिद्धान्तों को दोष युक्त नहीं ठहराया जा सकता। महात्मा बुद्ध का यदि कोई अनुयायी हिंसक हो तो इससे महात्मा बुद्ध को या बुद्ध धर्म को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मेरा तो यह विश्वास है कि प्रत्येक धर्म का संस्थापक या सुधारक उच्च कोटि के सिद्धान्तों को ही अपने अनुयायियों के सामने रखता है। किन्तु देश काल और परिस्थितियों के कारण यदि उन सिद्धान्तों में परिवर्तन आ जाता है या उस धर्म के अनुयायी उन सिद्धान्तों में अपने दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन कर लेते हैं तो इसमें किसी संस्थापक या सुधारक का दोष नहीं होता।

अब रही बात जैन राजा के राज्य की, अराजकता की और उसकी शत्रु द्वारा सहज दासता की। इस प्रकार की बातें वही लोग कर सकते हैं जो जैन शास्त्रों के मन्तव्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जैन शास्त्रों में अनेक चक्रवर्ती जैन राजाओं की कहानियें और जीवनियें मिलती हैं। जैन राजा अहिंसा को उचित स्थान देते हुए भी सुचारु रूप से

राज्य का प्रबन्ध चलाते थे और पूर्ण शक्ति से शत्रु का सामना करके देश की रक्षा करते थे। यहां जैन शास्त्रों में आए चक्रवर्ती जैन राजाओं के जीवन से कई उदाहरण लिखे जा सकते हैं किन्तु आधुनिक विचार के विद्वान् उन्हें पौराणिक कथाएं कह कर अवहेलना कर देंगे। अतः ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ऐसा उदाहरण देकर ही पाठकों को जैन धर्म में राज सत्ता का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायगा।

जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध धर्म में राजनीति पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं इसी प्रकार जैन धर्म भी जब उन्नति के शिखर पर था तब इसके विद्वानों ने भी राजनीति विषय पर ग्रन्थ लिखे थे। जैसे २ जैन राजसत्ता उठती गई जैन राजनैतिक साहित्य का महत्व भी कम होता गया और वह दिन प्रति दिन लुप्त होता रहा। विक्रम की ११ वीं शताब्दी तक केवल "अर्हन्नीति शास्त्र" के उदाहरण यत्र तत्र बिखरे मिलते थे। अभी तक यह पता नहीं चल सका कि जैन राजनीति पर लिखे इस ग्रन्थ का कर्ता कौन था। इस शास्त्र का पता भी हमें हेमचन्द्राचार्य कृत "लघ्वर्हन्नीति" नामक ग्रन्थ से लगता है। कुमार-पाल राजा ने अपने गुरु श्री हेमचन्द्राचार्य से यह प्रार्थना की कि वे जैन राजनीति पर छोटा सा ग्रन्थ तैयार करें। इस पर हेमचन्द्राचार्य ने "लघ्वर्हन्नीति" नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण के बाद लिखा है:—

कुमारपालक्ष्मापालाभ्यर्थनेन पूर्व- निर्मितात्।
अर्हन्नीत्यभिधाच्छास्त्रात् सारमुद्धृत्य किंचन ॥ १/६

भूप प्रजाहितार्थं हि शीघ्रस्मृति विधायकम्।
लघ्वर्हन्नीति सच्छास्त्रं सुबोधं क्रियतेऽधुना ॥ १/७

अर्थात्—राजा कुमारपाल के आग्रह से प्राचीन काल से चले आते अर्हन्नीति नामक शास्त्र से कुछ सार लेकर राजा और प्रजा दोनों के हित के लिये शीघ्र फल या होने योग्य लघ्वर्हन्नीति नाम के शास्त्र की रचना करता हूं। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैनराजनीति पर शास्त्र प्राचीन काल से चला आता था किन्तु वह उत्तरोत्तर लुप्त होता गया। अब तो वह बिल्कुल लुप्त हो चुका है। इस के केवल कुछ उद्धरण यत्र तत्र लघ्वर्हन्नीति में बिखरे मिलते हैं। जैसेः—

इति संक्षेपतः प्रोक्तः ऋणदान क्रमो ह्ययम्।
विस्तारो तु वृहन्नीति शास्त्रे वर्णितो भृशम्॥

ऋणदान प्रकरण पृ० ६६.

एव देय विधिः प्रोक्तः सभेदो विस्तरेण वै।
महार्हन्नीति शास्त्राच्च ज्ञेयस्त दभिलाषिभिः॥

देय विधि प्रकरण पृ० १०६.

लघ्वर्हन्नीति में जैन राजनीति के विषय संक्षेप से वर्णन किये हुए हैं। जहां विस्तार की बात आती है वह यँ लिख दिया गया है कि यदि विस्तार से देखना हो तो वृहदर्हन्नीति शास्त्र से देख सकते हैं।

लघ्वर्हन्नीति में लिखा है कि जैन धर्म के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ स्वामी के पूर्व भी नीति शास्त्र का अभाव न था किन्तु कलयुग के प्रभाव के कारण वह लुप्त प्रायः हो गया था। नीति शास्त्र के लुप्त होने पर सामाजिक शिथिलता बढ़ने लगी और लोग बड़े दुखी हो गए। लोगों के कल्याण के लिये ऋषभ स्वामी ने नीति शास्त्र को पुन: उज्जीवित किया इस कारण ऋषभ देव को नीति शास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। लघ्वर्हन्नीति में लिखा है कि लोगों को सामाजिक मर्यादा में बांधने के लिये ऋषभ देव ने कुछ मर्यादाएं स्थापित की।

जैसे:—(१) वर्णाश्रम विभाग। (२) संस्कार विधि। (३) कृषि वाणिज्य शिल्प विधि। (४) व्यवहार विधि। (५) राजनीति मार्ग। (६) कुलाचार विधि। (७) विद्या। (८) क्रिया लौकिक तथा पारलौकिक।

आदि पुराण के तीसरे पर्व में भी जिन सेन ने भी श्री ऋषभ देव को ही नीति शास्त्र का प्रवर्तक लिखा है। आदिराज ऋषभ देव ने कर्म को छः भागों में बांटा। (१) युद्ध। (२) कृषि। (३) साहित्य। (४) शिल्प (५) वाणिज्य। (६) व्यवसाय। ग्राम और नगर की पद्धति भी उन्हों ने चलाई। दण्डशाला और बन्दिशाला का आरम्भ भी उन्होंने ही किया। मनुष्यों में वर्ण व्यवस्था की मर्यादा भी उन्होंने चलाई। इससे यह स्पष्ट है कि जैनियों की स्वतन्त्र राजनैतिक मर्यादा उनके आदि तीर्थंकर ऋषभ देव से ही चली आती रही किन्तु जब जैन राजसत्ता समाप्त हो गई तो जैन राजनीति शास्त्र भी उत्तरोत्तर लुप्त होता गया और अन्त में स्थिति यहां तक पहुँची कि वे वैदिक नीति से ही शासित होने लगे।

यदि जैन राजनीति और वैदिक राजनीति में तुलना की जाय तो बहुत सी बातों में सर्वथा समानता पाई जाती है और बहुत सी सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं। उदाहरण के लिये समानता देखिये:—

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

मनु० अ० ७ श्लो० १९९.

अर्थात्:—युद्ध करने से पूर्व यदि किसी राजा को विजय में सन्देह हो और पराजय निश्चित हो तो ऐसी स्थिति में युद्ध का परित्याग करना चाहिये।

हेमचन्द्राचार्य का भी ठीक ऐसा ही मन्तव्य है जैसे:—

संदिग्धो विजयो युद्धेऽसंदिग्धः पुरुषक्षयः।
सत्स्वन्येष्वप्युपायेषु भूपो युद्धं विवर्जयेत् ॥

लघ्व० पृ० २७ श्लो० ३०.

अर्थात्:—यदि युद्ध में विजय होने का सन्देह हो और जन संहार स्पष्ट दिखाई देता हो तो दूसरे उपायों को काम में लेकर युद्ध का परित्याग ही श्रेयस्कर है।

"पुरुषक्षयः" से पाठक भलीभान्ति समझ सकते हैं कि हेमचन्द्राचार्य ने राजनीति में भी अहिंसा को कितना ऊँचा स्थान दिया है।

कूट युद्ध के लिये वैदिक राजनीति की तरह जैन राजनीति भी विरुद्ध है। जैसे:—

न कूटैरायुधैर्हन्यात् युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलित तेजसैः ॥

मनु० अ० ७ श्लो० ६०।

अर्थात्:—संग्राम में कूट शस्त्रों से, जलते हुए अग्नि कर्णिका के सदृश फल वाले, विष से, बुझे हुए तथा जलते हुए अग्नि बाणों से शत्रु को कभी न मारे।

लघ्वर्हन्नीति में इसी प्रकार का एक श्लोक है:—

नातिरूक्षैर्विषाक्तैर्न नैव कूटायुधैस्तथा।
दधन्मृदादिभिर्नैव युध्येत् नाग्नितापितैः ॥

पृ० ३६ श्लो० ५६।

अर्थात्:—अति रूखे, विष से बुझे हुए और अग्नि में तपाए हुए आदि कूट शस्त्रों से युद्ध न करे।

लघ्वर्हन्नीति में दंड देने के लिये दस स्थान बताए हैं:—

(१) उदर। (२) उपस्थ। (३) जिह्वा। (४) हाथ। (५) कान। (६) धन। (७) देह। (८) पाद। (९) नासा। (१०) चक्षु। इनमें से

एक तो अशारीरिक दंड है जैसे धन और अन्य नौ शारीरिक दण्ड हैं। वहां लिखा है कि दंड देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस अंग के द्वारा अपराध किया गया हो उसी का निग्रह करना आवश्यक है दूसरे का नहीं।

ठीक इसी प्रकार का मन्तव्य मनु जी का भी है।
जैसे:—

येन येन यथांगेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥

मनु० अ० ८ श्लो० ३३८.

चोर दूसरे की वस्तु जिस २ अंग से चुरावे राजा उस के उस अंग को कटवा डाले जिस से कि फिर कभी चोरी न कर सके।

यहां पर लिखना अप्रासंगिक न होगा कि जैन धर्म ग्रन्थ स्थानाङ्ग सूत्र में दण्ड नीति के सात प्रकार बताए हैं (१) हकारे। (२) मकारे। (३) धिकारे। (४) परिभासे। (५) मण्डलीबन्धे। (६) कारागारे। (७) छविच्छेदे।

छविच्छेद या अंगच्छेद एक ही बात है। अतः अंगच्छेद दण्डनीति का सातवां प्रकार है। ठीक स्थानाङ्ग के समान ही अर्हन्नीति भी सात प्रकार के दण्डों का वर्णन करती है। जैसे:– (१) हाकार, (२) माकार, (३) धिक्कार, (४) परिभाषण, (५) मण्डलबन्ध, (६) काराक्षेपण, (७) अङ्ग खण्डन।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था की स्थापना में भी वैदिक और जैन धर्म समान हैं। ऋग्वेद की ऋचा के अनुसार:–

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, बाहु राजन्यः कृतः।"
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

ब्रह्मा ने मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, उरू से वैश्य की और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति की। जैन मन्तव्य भी इस के साथ प्रायः मिलता जुलता ही है। जैन धर्म के आदि पुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने हाथ में तलवार पकड़ कर क्षत्रियकी, उरू से चलने का संकेत करके वैश्य की और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति की। ब्राह्मणों की उत्पत्ति बाद में ऋषभ स्वामी के पुत्र भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मुख से की।

जैन धर्म में वर्णव्यवस्था प्रारम्भ से कर्म से मानी जाती है किन्तु वैदिक धर्म में विशेष ज़ोर जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने पर दिया है। यद्यपि वैदिक धर्म ग्रन्थों में ऐसे भी अनेक प्रमाण हमारे सामने हैं जिन से वर्ण व्यवस्था कर्म से सिद्ध होती है किन्तु व्यापक रूप से जन्म से ही वर्णव्यवस्था प्रचलित रही है। मेरे विचार में जैन शास्त्रों में प्रतिपादित कर्म वर्ण व्यवस्था का परित्याग कर आज की जैन समाज जो व्यापक रूप में जन्मगत वर्ण व्यवस्था को मानने लगी है यह जैनियों पर वैष्णवधर्म का ही प्रभाव है।

इसी प्रकार शत्रु पर चढ़ाई करने के समय के विषय में भी प्रायः दोनों एक मत ही हैं। जैसे:—

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथा बलम्॥

मनु० अ० ७ श्लो० १८२.

अर्थात् पवित्र अगहन के मास में राजा युद्ध की यात्रा करे अथवा जैसी अपनी सामर्थ्य हो उस के अनुसार फाल्गुण अथवा चैत्र के महीने में शत्रु के राज्य पर आक्रमण करे।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् ।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥

मनु० अ० ७ श्लोक १८३

अर्थात्:— राजा जब अपनी जीत निश्चय जाने तथा जब देखे कि शत्रु इस समय विपत्ति में फंसा है तब वह अन्य किसी महीने में युद्ध के लिए यात्रा करे ।

अब पाठक ज़रा जैन राजनीति की ओर ध्यान दें:—

सुमुहूर्ते सुशकुने मार्गाद्यौ मास सप्तके ।
युद्धं कुर्वीत राजेन्द्रो वीक्ष्य काल बलाबलम् ॥

लघ्व० पृ० २६ श्लोक ११

अर्थात्:— अच्छे मुहूर्त में अच्छे शकुन होने पर मार्गशीर्षादि आठ महीनों में अच्छा समय देख कर युद्ध के लिये प्रयाण करना चाहिये ।

यहां पर भी श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक इन चार महीनों में युद्ध यात्रा का निषेध कर के अहिंसा धर्म की ओर कितना ध्यान रखा गया है ।

इसी प्रकार जैन राजनीति धर्म युद्ध के पक्ष में होते हुए भी यह कहती है कि:—

शत्रावन्याय निष्ठे तु कर्तव्यं यथोचितम् ।

लघ्व० पृ० १६ श्लोक ६.

अर्थात् शत्रु यदि अन्याय पर तुला हो तब तो उस के साथ युद्ध अवश्य करना चाहिये ।

इसी प्रकार दुष्टों को दंड देने के लिये और साधुओं के पालन के लिये भी वैदिक और जैन मन्तव्य एक ही है । जैसे:—

निग्रहेण तु पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥

मनु० अ० ८ श्लोक ३११

अर्थात्:- जिस प्रकार द्विज यज्ञों द्वारा पवित्र होते हैं उसी प्रकार राजा लोग पापियों को दंड देने तथा साधुओं की रक्षा करने से पवित्र हुआ करते हैं ।

इस से मिलते जुलते लघ्वर्हन्नीति के उदाहरण पर पाठक जरा दृष्टि डालें:-

शिष्टानां पालनं कुर्वन् दुष्टानां निग्रहं पुनः ।
पूज्यते भुवने सर्वैः सुरासुर नृयोनिभिः ॥

लघ्व. पृ० २२१ श्लोक ६.

अर्थात्:- सज्जनों का पालन करने और दुष्टों का निग्रह करने वाले राजा लोग संसार में देव, राक्षस और मनुष्य सब के द्वारा पूजे जाते हैं ।

बाल, आतुर और वृद्ध ये तीनों मनु और हेमचन्द्राचार्य दोनों की दृष्टि में क्षन्तव्य हैं-

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥

मनु० अ० ८. श्लोक ३१२.

अपना कल्याण चाहने वाले राजा तथा कार्यार्थी, बालक, वृद्ध तथा रोगी इन के द्वारा होने वाली निन्दा को क्षमा करता रहे ।

· बालातुरातिवृद्धानां क्षन्तव्यं कठिनं वचः ॥

लघ्व० पृ० २२१. श्लोक ९.

अर्थात्:- बालक रोगी और अतिवृद्धों के कठिन वचन को भी क्षमा कर देना चाहिये ।

उपर्युक्त कुछ उदाहरणों से पाठकों को भलीभाँति पता चल गया होगा कि बहुत सी बातों में वैदिक और जैन दोनों का राजनीति के नियमों में एक ही मत है। अन्य भी बहुत से विषयों पर दोनों मतों में समानता है, किन्तु यहां तो विस्तार भय से थोड़े से उदाहरण दिये गए हैं।

अब कुछ एक ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनसे पाठकों को पता चलेगा कि बहुत से विषयों पर जैन और वैदिक मत में विचार भिन्नता है। उन उदाहरणों से पाठकों को यह भी पता चलेगा कि जैन राजनीति किस प्रकार अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए थी और किस प्रकार उस के अनुयायी उस पर अमल करते थे। जैन-राजनीति में सब से बड़ी विशेषता हमें यह मिलती है कि उचित दण्ड के विधान के साथ २ 'अहिंसा परमोधर्म.' के सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की गई। जैन राजा के दण्ड में कटुता के साथ २ दया के माधुर्य का अंश भी हमें मिलता है।

लघ्वर्हन्नीति में लिखा है कि स्त्री, ब्राह्मण वा तपस्वी इन से कोई बड़ा भारी अपराध भी हो जाय तो भी इनका न तो कोई अंग च्छेद ही करवाना चाहिये और न ही उनको मृत्युदण्ड ही देना चाहिये। देश से बाहिर निकालना ही इन के लिये पर्याप्त है। इस के विपरीत मनु जी ने लिखा है:—

गुरुं वा बालवृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

मनु० अ० ८. श्लो० ३५०.

अर्थात्— यदि गुरु, बालक, वृद्ध अथवा बहुत शास्त्रों का जानने

वाला ब्राह्मण भी आततायी बन कर आवे तो बिना विचारे ही उसे मार डाले।

जैन राजा न्याय मार्ग में स्थित रहते हुए दण्ड तो प्रत्येक अपराधी को देना उचित समझते हैं किन्तु अहिंसा धर्म को सदा दृष्टि में रखते हुए वध के स्थान में उसे देश निकाला देना अच्छा समझते हैं। मारने की अपेक्षा अपराधी को ऐसा दण्ड देना जिस से वह जीवित रह कर आजन्म पश्चात्ताप करता रहे अधिक अच्छा है। अपराधी को मार कर नष्ट करने से कोई महत्व नहीं किन्तु उस को ऐसी परिस्थिति मे रखना जिस से वह अपनी भूल को समझ सके उस के लिये प्रायश्चित्त कर सके और पुनः एक सच्चरित्र नागरिक बन सके, अधिक अच्छा है। बिगड़ी मशीनरी को नष्ट तो हर एक ही कर सकता है किन्तु उस के पुर्ज़ों को ठीक कर पूर्ववत् चला देने वाले का ही गौरव होता है। आज का सभ्य संसार भी इस सत्य को भलीभाँति समझने लगा है और उसी का यह परिणाम है कि बहुत से पाश्चात्य देशों में अपराधियों को मृत्यु दण्ड का विधान रोक दिया गया है। जैन राजनीति में भी मृत्यु दण्ड का सर्वथा अभाव नहीं है किन्तु दूसरे कठिन दण्डों के सद्भाव मे इसका त्याग अधिक अच्छा माना जाता है।

वैदिक राजनीति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अनपत्य मर जाय तो उस की सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी नहीं हो सकती किन्तु "राजगामी तस्यार्थ संचयः" अर्थात् राजा ही उसका अधिकारी होता है। मनु जी का कहना है कि:—

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च॥

मनु॰ अ॰ ८. श्लोक २९

वन्ध्या, पुत्रहीना, जिस स्त्री के कुल में कोई न हो, पतिव्रता विधवा तथा रोगिणी स्त्री के धन का रक्षक राजा होता है।

जैन राजनीति का मन्तव्य इस से सर्वथा भिन्न है हेमचन्द्र जी लिखते हैं:—

अनपत्ये मृते पत्यौ सर्वस्य स्वामिनी वधूः।

अर्थात्— पति यदि निःसन्तान मर जाय तो उस की सारी सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी होती है। इसी प्रकार आगे:—

भ्रष्टे नष्टे च विक्षिप्ते पतौ प्रव्रजिते मृते।
तस्य निश्शेष वित्तस्याधिपास्याद्वरवर्णिनी॥

पुत्रस्य सत्वेऽसत्वे च भर्तृवत्साऽधिकारिणी॥

पृ० १२८. श्लो० ५२, ५३.

अर्थात्— पति यदि भ्रष्ट हो जाये, नष्ट हो जाये, पागल हो जाये, सन्यासी हो जाये या मर जाए इन सब हालतों में उस के पुत्र हो चाहे न हो तो पति की सारी सम्पत्तिकी अधिकारिणी उस की पत्नी होती है।

वैदिक साहित्य में पुत्र का स्थान बड़ा विचित्र है:—

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥

मनु अ० ९. श्लोक १३८

अर्थात्— जिस कारण बेटा "पुँ" नाम नरक से पितरों की रक्षा करता है इसी से स्वयं ब्रह्मा ने बेटे को पुत्र कह कर पुकारा है।

इस तत्व की और भी पुष्टि करते हुए मनुजी लिखते हैं:—

ज्येष्ठेन जात मात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥

मनु अ० ६, श्लोक १०६.

पिता ज्येष्ठ पुत्र के जन्म लेते ही पुत्रवान् हो जाता है और पितृ ऋण से उऋण होता है अतएव पिता का सब धन पाने का अधिकारी वही है ।

इस प्रकार मनु जी के मन्तव्य के अनुसार पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं हो सकती । वह मर कर नरक में जाता है । अतः पितरों को पिण्डदान के लिये पुत्र का होना नितान्त आवश्यक है । मनु जी का तो यहां तक कहना है कि पुत्र की उत्पत्ति केवल नरक से बचाती ही नहीं परन्तु स्वर्ग के मार्ग को खोलने में भी एक निश्चित साधन है ।

आप कहते हैं कि:—

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥

मनु अ० ६. श्लोक १३७.

अर्थात्— पुत्र के जन्म लेने से मनुष्य स्वर्गादि लोकों को पाते हैं और पौत्र के जन्म से स्वर्ग में चिरकाल पर्यन्त अवस्थिति होती है और प्रपौत्र की उत्पत्ति से सूर्यलोक में निवास किया करता है । इस प्रकार मनु जी पुत्र के साथ २ प्रपौत्र को भी स्वर्ग का साधन मानते हैं ।

जैन सिद्धान्त इस के सर्वथा विपरीत है । भद्रबाहु संहिता में लिखा है—

पुत्रेण स्यात् पुण्यत्वमपुत्रः पापयुग्भवेत् ।
पुत्रवन्तोऽवश्यमन्ते पामरा कणयाचकाः ॥ ८ ॥

दृष्टास्तीर्थकृतोऽपुत्राः पंचकल्याणभागिनः ।
देवेन्द्रपूज्यपादाब्जाः लोकत्रय विलोकिनः ॥ ९ ॥

अर्थात्– यदि पुत्र की उत्पत्ति ही पुण्यवानी का लक्षण है तो सैंकड़ों पुत्रों वालों की दुर्गति होती क्यों दिखाई देती है ? इस के विपरीत पुत्र-रहित तीर्थंकर पांच कल्याण के भागी, त्रिलोकदर्शी और इन्द्रादि से पूजित पाए जाते हैं ।

जैन सिद्धान्त के अनुसार पिता के कर्मों का भोक्ता पुत्र नहीं और पुत्र के कर्मों का भोक्ता पिता नहीं हो सकता । दोनों को अपने-अपने कर्मों का फल स्वतन्त्र रूप से भोगना पड़ता है । यदि पिता दुश्चरित्र और पापी है और पुत्र सत्क्रियावान् है तो पिता को तो अपने कर्मों का दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा ही । पुत्र अपने शुभ कर्मों का शुभ फल पाएगा । उत्तम से उत्तम पुत्र भी पापी पिता के कर्मों को धोने में कभी समर्थ नहीं हो सकता । पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भले ही पिता के कल्याण के लिये कितनी क्रियाएं क्यों न करे किन्तु वे मृतात्मा के लिये सब व्यर्थ हैं । जैन शास्त्रों में श्राद्ध क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है । पुत्र ऐहलौकिक आनन्द का कारण बन सकता है, पारलौकिक क्रिया में पिता के लिये वह कोई महत्त्व नहीं रखता यह जैन दर्शन का मन्तव्य है ।

मनु जी ने द्विजमात्र के लिये ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ, नृयज्ञ ये पांच यज्ञ माने हैं । इन सब का लक्षण करते हुए स्वयं कहते हैं कि–

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

मनु अ० ३, श्लो० ७०,

अर्थात्– शिष्यों को अध्यापन ब्रह्म यज्ञ, पितरों को तर्पण पितृयज्ञ, होम करना देवयज्ञ, जीवों को अन्न की बलि देना भूतयज्ञ, और अतिथि का आदर सत्कार करना नृयज्ञ कहलाता है।

वैदिक धर्म ग्रन्थों में यज्ञों का बहुत ऊंचा स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों का विस्तार पूर्वक वर्णन तथा विधान मिलता है। राजा के लिये राजसूय, और अश्वमेधादि यज्ञों का विधान है। बहुत से यज्ञों में पशुवध का भी विधान है। यज्ञ के लिये पशु को मारना भी पाप नहीं समझा जाता उल्टा आगे के जन्म में उत्तम गति पाने के लिये उसे सर्टिफिकेट मिल जाता है। मनु जी का कथन है कि:–

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

मनु अ० ५, श्लो० ३९.

अर्थात्– स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं को बनाया है। अतएव यज्ञ में पशु का वध अवध अर्थात् वध जन्य दोष रहित है।

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः॥

मनु अ० ५. श्लो० ४०.

औषधि पशु वृक्षादि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार वैदिक धर्म ग्रन्थों में हिंसामय यज्ञों का विधान मिलता है। कुछ एक वैदिक विद्वानों ने जो हिंसा में विश्वास नहीं करते वैदिक मन्त्रों का अर्थ अपने दृष्टिकोण के अनुकूल ऐसा किया है कि जिस से हिंसा विधान के प्रतिपादन का निवारण हो जाता है किन्तु

यह प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता क्योंकि गौणार्थ मुख्यार्थ की विशेषता को छिपा नहीं सकता। बहुत से लोगों ने यही संभव हो सका है हिंसा: प्रतिपादक पाठों पर प्रक्षेप की मोहर लगाने का भी मिथ्या प्रयास किया है। काल्पनिक युक्तियें तथा समन्वयानुकूलतायें वास्तविक सत्य को छिपाने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकते।"

उपर्युक्त वैदिक यज्ञों से अब पाठक जैनयज्ञों की तुलना करें। हेमचन्द्राचार्य ने लघ्वर्हन्नीति में जैन राजा के लिये पांच यज्ञों का विधान किया है—जैसे—

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातो रिपु राष्ट्र रक्षा पंचैव यज्ञा कथिता नृपाणाम्॥
पृ० ६ श्लो० ४४.

अर्थात्:— दुष्ट को दण्ड देना, सज्जन की पूजा करना, न्याय से खजाने को बढाना. किसी का पक्षपात न करना और शत्रु से राष्ट्र की रक्षा करना ये राजाओं के लिये पांच यज्ञ हैं।

जो लोग जैन धर्म को कायरों का धर्म मानते हैं और जैन धर्म को शत्रु के सामने शीघ्र पतन की कल्पना करते हैं उन को जैनियों के प्रथम यज्ञ और अन्तिम की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

जैन राजा 'अहिंसा परमोधर्मः' का उपासक होते हुए भी अपराधी दुष्ट पुरुष को बिना दण्ड दिये नहीं छोड़ सकता। चौथा यज्ञ "अपक्षपात" का प्रथम यज्ञ से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दण्ड देते समय न्यायाधीश पक्षपात रहित होना चाहिये। जैन राजा में ये दोनों गुण किस प्रकार प्राचीन काल में घटित होते रहे हैं यह नीचे लिखे दृष्टान्त से पाठकों को भली भांति ज्ञात हो जाएगा:—

प्राचीन समय में मलय देश की राजधानी रत्नपुर में प्रजापति नामक राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम चन्द्रचूल था जो कि बड़ा ही दुष्ट और दुश्चरित्र था। रत्नपुर में एक कुबेरदत्त सेठ रहता था जिस ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण वहां के एक श्रेष्ठीपुत्र श्रीदत्त के साथ किया। कन्या बड़ी ही रूपवती थी। उस के सौन्दर्य की महिमा चन्द्रचूल के कानों तक पहुंची। जबकि विवाह संस्कार हो रहा था तब चन्द्रचूल उस सुन्दरी कन्या को बलपूर्वक हरण करने केलिये लोगों की बड़ी भीड़ में पहुंच गया।

राजकुमार के इस दुराचार से लोगों को बड़ा दुःख हुआ। नगर के पञ्च मिलकर राजा के पास गए और राजकुमार की इस नीचता की शिकायत की। राजा न्यायप्रिय था और पक्षपात करना तो जानता ही न था। जब उस ने अपने पुत्र की दुश्चरित्रता की बात सुनी तो उसे उस पर बड़ा कोप आया। चन्द्रचूल को राजा के सामने लाया गया। राजा ने उसे देखते ही तुरंत आज्ञा दीः—

तदालोक्य 'किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम्।
निशातं शूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामिति॥

अर्थात्:— इस पापी को यहां लाने की क्या आवश्यकता है? इस को तो शीघ्र ही श्मशान घाट में तीखे शूल पर लटका दो।

राजा का मन्त्री बड़ा बुद्धिमान् था। उस ने राजकुमार को दण्ड देने का भार अपने ऊपर ले लिया। वह राजकुमार को जंगल में ले गया और वहां जैन मुनियों की सेवा में उसे दीक्षा दिलाई।

यह थी जैन राजाओं की न्याय परायणता और निष्पक्ष दण्ड विधान। न्याय के सिंहासन पर बैठ कर वे पक्षपात नहीं दिखाते थे।

दुष्ट को दण्ड देना इस प्रथम पक्ष का वे भलीभाँति पालन करते थे। वे दुष्ट दुष्ट में भेद नहीं समझते थे। दुष्ट चाहे प्रजा में उत्पन्न हुआ हो चाहे राज महल में, दुष्ट तो दुष्ट ही है; अतः उस को दण्ड अवश्य मिलना चाहिये और दण्ड भी ऐसा जो कि उस की दुष्टता के अनुकूल हो।

हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि जो राजा न्याय में स्थित रहता है। चोर, धूर्त और दुष्टों को दण्ड देता है वह सीधा स्वर्ग में जाता है। इस प्रकार उन लोगों के लिये जो जैनधर्म में वीरता के अभाव की कल्पना करते हैं और इसी कारण जैनियों को कई प्रकार की अनुचित उपाधियां देने का साहस कर बैठते हैं। जैन राजाओं के प्रथम और अन्तिम दो पक्ष पर्याप्त उत्तर होगा। किसी भी धर्म के शास्त्रीय ज्ञान से परिचित हुए बिना उसके ऊपर टीका टिप्पणी करना कहां तक ठीक होता है इस की कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

अब अन्त में मैं जैन राजनीति की एक विशेषता और बताना चाहता हूं। वह विशेषता वैदिक राजनीति में नहीं पाई जाती! चक्रवर्ती राजा तो वैदिक और जैन दोनो की नीतियों में पाए जाते हैं। वैदिक धर्म में चक्रवर्ती पद को पाने के लिये अश्वमेध और राजसूय यज्ञों का विधान है। जैन शास्त्रों में चक्रवर्ती बनने के लिये राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का विधान नहीं मिलता। जैन धर्म में भी चक्रवर्तीत्व पद पाने के लिये जब युद्ध करना पड़ता होगा तब हिंसा अवश्य होती होगी ही किन्तु जैन धर्म ग्रन्थों में बल की परीक्षा के लिये अन्य भी अहिंसामय उपाय बताए गए हैं। हिंसामय युद्धों के स्थान पर जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध का विधान है। इन में बाहुयुद्ध प्रधान रहा है। अतः जब दो राजाओं में युद्ध होता है तो दोनों पक्ष की लाखों की संख्या में

सेनाएं एक दूसरे पर टूट पड़ती हैं। कोई वीर राजा हुए तो सेना के साथ २ युद्ध में चले गये। नहीं तो अक्सर सेनाएं ही लड़ा करती हैं और राजा अपने आप को महलों में या किलों में सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार दो व्यक्तियों के राज्य लाभ के लिये सहस्रों सिपाही युद्धभूमि में अपने जीवन खोबैठते हैं। जैन नीतिज्ञों को यह बात ठीक नहीं लगी। इस कारण उन्हों ने बाहुयुद्ध की प्रथा चलाई। बाहुयुद्ध में केवल दो विरोधी राजाओं का ही युद्ध होता था। सेना उस में भाग नहीं लेती थी। जो राजा जीतता उस से पराजित राजा अधीनता स्वीकार कर लेता। इस तरह सेनाओं के युद्ध से जो लाखों व्यक्तियों का संहार होता, वह बच जाता। जैन धर्मग्रन्थों में बाहुयुद्ध के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कहते हैं कि नेमि महाराज एक बार अचानक ही भगवान् कृष्ण की शस्त्रशाला में चले गए। उन्होंने श्रीकृष्ण जी के चक्र को कुम्हार के चक्र की भांति घुमा दिया। शाङ्ग धनुष को मृणाल की तरह, कौमोद की गदा को लाठी की तरह उठा डाला और पाञ्चजन्य शंख को खूब ज़ोर से बजाया। शंख ध्वनि को सुन कर कृष्ण जी को किसी शत्रु के आने का संदेह हुआ और वह तुरन्त ही शस्त्रशाला में आ गए। वहां उन्होंने नेमि महाराज को खड़े पाया। दोनों ने बल-परीक्षा के लिये बाहुयुद्ध को ही उचित समझा और फिर दोनों का बाहुयुद्ध हुआ।

इसी प्रकार भरत और बाहुबलि का युद्ध भी बहुत प्रसिद्ध है। पहले दोनों की सेनाएं लड़ने को उद्यत थीं किन्तु दोनों के प्रधानमन्त्रियों ने सेनाओं के युद्ध में बहुत जन संहार देखकर यही निश्चय किया कि दोनों का बाहुयुद्ध हो और अन्त में हुआ भी यही।

इस प्रकार जैनधर्मनीति में युद्ध के विधान में "अहिंसा परमो-

धर्म" इस सिद्धान्त का बहुत ऊंचा स्थान है। इस छोटे से लेख में पाठकों को भलीभांति पता चल गया होगा कि जैन धर्म वास्तव में वीर धर्म है। जो लोग इस से अन्यथा कल्पना करते हैं वे जैनधर्म के मर्म से अनभिज्ञ हैं। उन को चाहिये कि वे जैन शास्त्रों का अध्ययन करके इस के महत्व को समझें। इस के साथ २ मैं जैन कुलोत्पन्न सज्जनों से भी निवेदन करना चाहता हूं कि वे नाममात्र के जैन होने में ही गौरव न समझें। उन को अपनी प्राचीन संस्कृति और प्राचीन गौरव को कभी न भुलाना चाहिये। यदि वे अपने पूर्वजों के दिखाए पथ पर चलेंगे तभी वास्तव में सच्चे जैन कहलाने के योग्य बन सकेंगे।

जैन धर्म में वर्णव्यवस्था

जैसा कि पहिले भी बता चुके हैं वैदिक, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म अति प्राचीन काल से साथ साथ चले आए हैं अतः तीनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहा है। तीनों धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धान्तों को समय २ पर अपनाते रहे हैं। और एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं। निस्सन्देह तीनों का जीवन चिरकाल से पारस्परिक संघर्षमय चलता रहा है। और प्रत्येक ने अपने अपने सिद्धान्तों को ही एक मात्र कल्याण का साधन माना है किन्तु यह संघर्ष ऐसा ही था जैसा कि तीन सहोदर भाइयों का होता है। तीनों धर्मों के धर्म ग्रन्थों को यदि सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा जाय तो उसके निचोड़ में अति प्राचीन भारतीय सभ्यता की एक ही झलक दृष्टिगोचर होती है। तीनों धर्मों की गहराई में एक ही संस्कृति छिपी मिलती है। ठीक इसी प्रकार जैसे तीन सहोदर भाइयों में पारस्परिक मतभेद के होने पर भी मातृस्नेह का स्रोत समान रूप से ही बहा करता है। अतएव वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों में किसी एक के सिद्धान्त पर उसी के दृष्टि कोण से विवेचन करना या कोई निर्णय देना उस मन्तव्य के साथ अन्याय करना होगा। किसी भी विषय का विश्लेषण तीनों धर्मों के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से ही करना चाहिये। ऐसा करने से ही वह सुन्दर और निर्णयात्मक हो सकता है। अतएव जैन धर्म में वर्णव्यवस्था के विश्लेषण के साथ साथ वैदिक और बौद्ध धर्मों

में वर्णव्यवस्था की [illegible] [illegible] [illegible] हो जाता है। तीनों धर्मों की साथ साथ प्रगति होने के कारण तीनों ने जो एक दूसरे की सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक [illegible] सभी क्षेत्रों में यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

॥ वैदिक वर्ण व्यवस्था ॥

चारों वेदों में सब से प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है। इस वेद के दस मंडल हैं। प्रथम नौ मण्डलों में कहीं भी वर्णव्यवस्था का विधान नहीं पाया जाता। दशम मंडल में वर्णव्यवस्था का विधान मिलता है जो इस प्रकार है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

इस मंत्र में ब्राह्मण की मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की ऊरु से और शूद्र की पैरों से तुलना या उत्पत्ति ध्यान देने योग्य है।

इस मंत्र के आधार पर बहुत से विद्वानों ने वैदिक काल में जन्मगत वर्णव्यवस्था सिद्ध करने की कोशिश की है किन्तु भाषा विज्ञान के पंडितों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद के दशम मंडल की रचना प्रथम नौ मण्डलों से बहुत बाद की है। दशम मंडल की भाषा से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि उसकी भाषा प्रथम नौ मंडलों की भाषा से भिन्न प्रकार की है। अतः ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था

॥ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ ॥

वर्ण शब्द का अर्थ है रंग (complexion)। भारतीय आर्य लोगों का रंग गौर और सुन्दर होता था। कृष्ण या काले वर्ण के द्राविड़ आदि जातियों के लोग भी भारत भूमि में बसते थे। आर्य जाति का काले रंग की जातियों से कुछ काल तक संघर्ष भी रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने उन कृष्ण वर्ण जाति के लोगों से जिन्हें वे अनार्य या दस्यु कह कर पुकारते थे अपनी उत्कृष्टता की भिन्नता प्रकट करने के लिये ही वर्ण शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया होगा। बाद में जैसा कि ऋग्वेद के दशम मंडल में मिलता है समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभक्त कर दिया। प्रारम्भ में यह वर्ण व्यवस्था कर्म गत थी जन्म गत नहीं। कोई भी पुरुष अपने उच्च या नीच कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन सकता था। यही कारण है कि वैदिक धर्म के प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र वशिष्ठ और दीर्घतमा आदि अब्राह्मण होते हुए भी अपने उत्कृष्ट कर्मों से ब्राह्मण पद को प्राप्त हुए। मनु जी महाराज भी इसी तत्व की पुष्टि करते हैं:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवंतु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

मनु १०/६५/

अर्थात् जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है उसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जानना चाहिये।

कुछ काल के पश्चात् वर्ण के स्थान में जाति शब्द का भी प्रयोग होने लगा। वैदिक साहित्य में सर्व प्रथम यह शब्द कात्यायन

गोत्र सूत्रमें मिलता है। उसमें इसका प्रयोग वर्ण के अर्थ में नहीं किया किन्तु परिवार या कुल के अर्थ में मिलता है। परन्तु जैसे २ वर्ण व्यवस्था जन्म सिद्ध अधिकारों में फंसती गई वैसे २ वर्ण के स्थान में जाति शब्द का प्रयोग विशेष रूप से होने लगा। अन्त में जाति शब्द का प्रयोग इतना अधिक प्रचलित हो गया कि वर्ण शब्द उसके सामने लुप्त सा हो गया। आज कल भी हमारे देश में सर्वत्र जाति शब्द का ही प्रयोग होता है। ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण, वैश्य वर्ण और शूद्र वर्ण के स्थान में ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति, वैश्य जाति और शूद्र जाति का प्रयोग करते हैं।

॥ अनेक जातियों की उत्पत्ति ॥

प्रारम्भ में जब वर्णव्यवस्था का युग शुरू हुआ तो चार ही वर्ण थे। आज की भाषा में चार जातियें थीं। इन्हीं चार जातियों में से आज की सैंकड़ों जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसका पता बहुत कुछ मनुस्मृतिसे चल जाता है। मनु जी की राजनीति के अनुसार ब्राह्मण को तो चारों वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह करने का अधिकार है और बाकी के वर्ण या जातियें अपने से नीचे किसी भी वर्ण की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध कर सकती हैं किन्तु अपने से उच्च वर्ण के साथ नहीं।

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

मनु० अ० ३ श्लोक १३.

अर्थात्:— शूद्रा ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं। वैश्य को

वैश्य वर्ण की और शूद्र . क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा, और ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्याओंसे विवाह करनेका अधिकार है।

चारों वर्ण अपने २ वर्णों में विवाह सम्बन्ध करके जो संतान उत्पन्न करते हैं वह संतान ही शुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानी जाती है। जैसे:-

सर्व वर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥

मनु अ० १०. श्लोक ५०.

अर्थात्:- इन चार वर्णों में सवर्ण अक्षतयोनि विवाहिता स्त्रियों में अनुलोम क्रम से जो संतान उत्पन्न होती है जैसे ब्राह्मण से ब्राह्मणी में जो पुत्र उत्पन्न होगा वह ब्राह्मण कहलावेगा। क्षत्रिय से क्षत्रिया में उत्पन्न क्षत्रिय, वैश्य से वैश्या में उत्पन्न वैश्य होता है।

इसके विपरीत जैसा कि मनु जी ने ऊपर भिन्न वर्णों में भी उत्तरोत्तर विवाह का विधान किया है उस से जो सन्तति उत्पन्न होती है वही आज की सैंकड़ों जातियों की उत्पत्ति में मूल कारण है। उनकी उत्पत्ति के विषय में भी मनुस्मृति में पर्याप्त विवरण मिलता है जैसे:-

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ अ० १०. श्लोक ८.

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचार विहारवान् ।
क्षत्र शूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥९॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥११॥

शूद्रा में निषाद द्वारा उत्पन्न पुत्र "पुक्कस" तथा शूद्र से निषाद कन्या में जायमान पुत्र कुक्कुट कहे जाते हैं ॥१८॥

क्षत्ता द्वारा उग्र कन्या में जन्मा हुआ पुत्र "श्वपाक" कहा जाता है। वैदेह से अम्बष्ठ नाम्नी कन्या में उत्पन्न पुत्र वेण कहलाता है ॥ १९ ॥

द्विजाति की सवर्णा कन्याओं में उत्पन्न पुत्रों का यदि यज्ञोपवीत संस्कार न हो तो वे "व्रात्य" कहे जाते हैं ॥ २० ॥

व्रात्य संतान से पापात्मा 'भूर्जकण्टक" पुत्र जन्मता है। देश भेद से इसी को 'आवन्त्य', 'वाटधान', पुष्पध 'तथा "शैख" भी कहते हैं ॥ २१ ॥

क्षत्रिय जाति की व्रात्य से उत्पन्न पुत्र, झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस. तथा द्रविड़ कहलाते हैं ॥ २२ ॥

आजकल उपलब्ध सूत, आभीर निषाद और शैख आदि अनेक जातियों की उत्पत्ति चारों वर्णों के अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धों से किस प्रकार होती गई यह मनु जी की राजनैतिक व्यवस्था से पाठकों को भली भाँति स्पष्ट हो गया होगा।

इस के अतिरिक्त लोगों के भिन्न भिन्न पेशे या व्यवसाय भी अनेक नवीन जातियों की उत्पत्ति में नवीन कारण बने। जैसे सोने का काम करने वाले स्वर्णकार या सुनार, लोहे का काम करने वाले लौहकार या लुहार, चमड़े का काम करनें वाले चर्मकार या चमार, वस्त्र धोने का काम करने वाले धोबी, क्षौरकर्म करने वाले नापित या नाई, तेल निकालने वाले तेली, वस्त्र बुनने का काम करने वाले तन्तुवाय या जुलाहे, इत्यादि अनेक जातियों के नाम उनके कर्म या व्यवसाय के आधार पर पड़े।

इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त के अनुसार भारत में अनेक जातियों की उत्पत्ति होती गई। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में तो वर्णव्यवस्था कर्म से ही मानी जाती थी जन्म से नहीं। इसी तत्व को पुष्ट करने वाला एक श्लोक शुक्रनीति में भी आता है:-

विश्वामित्रो वसिष्ठश्च मतंगो नारदादयः।
तपोविशेषसंप्राप्ताः उत्तमत्वं न जातितः॥

अर्थात्:- विश्वामित्र, वसिष्ठ, मतंग, और नारदादि ऋषि तप के प्रभाव से उत्तम पद को प्राप्त हुए जाति से नहीं। "वाल्मीकि रामायण" के कर्ता महर्षि वाल्मीकि के विषय में तो सब जानते हैं कि वह किस प्रकार नीच जाति में उत्पन्न हो कर भी राम की महिमा से कितने उच्च पद को प्राप्त हुए। चक्रवर्ती महाराज की महारानी सीता को भी उन्होंने अपने आश्रम में आश्रय दिया था।

विस्तार भय से इस लेख को अधिक न बढ़ाते हुए अन्त में मैं यही बताना चाहता हूं कि वैदिककाल में वर्णव्यवस्था कर्म से ही मानी जाती थी। उपर्युक्त विवरण से पाठकों को इस तत्व का भलीभाँति पता चल गया होगा। आज कल की जन्मगत वर्णव्यवस्था की भयानकता ऋग्वैदिक काल में न थी। इस का प्रचार बाद में हुआ और यहां तक बढ़ा कि नीच से नीच काम करने वाला पुरुष यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ हो तो वह जाति की श्रेष्ठता की डींग हांकने में कोई कसर बाकी नहीं रखता। शूद्र जाति में पैदा हुआ पुरुष उत्तम से उत्तम आचरण करने पर भी नीच माना जाता है। बहुत से अज्ञानी पुरुष तो शूद्र की छाया पड़ने पर भी अपने आप को अपवित्र मानने लगते हैं। इस को मूर्खता की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है। यह नहीं ही

साधुओं की बात जाने दीजिए श्रावक तक लोगों में से जाति मूढ़ता अथवा जाति या कुल मद को दूर करने के सदा प्रयत्न करते थे। रास्ता चलते एक श्रावक का समागम कुछ ब्राह्मणों से हो गया ब्राह्मण अपने जाति मद में मस्त थे किन्तु श्रावक के युक्ति पूर्ण वचनों से उनका वह नशा काफूर होगया। वे जान गए कि मनुष्य के शरीर में वर्ण आकृति के भेद देखने में नहीं आते हैं; जिससे वर्ण भेद हो। क्योंकि ब्राह्मण आदि का शूद्रादि के साथ भी गर्भाधान देखने में आता है। जैसे गौ घोड़े आदि की जाति का भेद पशुओं में है ऐसा जाति भेद मनुष्यों में नहीं है क्योंकि यदि आकार भेद होता तो ऐसा भेद होना संभव था अतः मनुष्य जाति एक है। उसमें जाति अथवा कुल का अभिमान करना वृथा है। एक उच्चवर्णी ब्राह्मण भी गोमांस खाने और वेश्यागमन करने से पतित हो सकता है और एक नीच कुल का मनुष्य अपने अच्छे आचरण द्वारा ब्राह्मण के गुणों को पा सकता है।

भगवान् महावीर के दिव्य संदेशों में मनुष्य मात्र के लिए व्यक्ति स्वातन्त्र्य का मूल मन्त्र गर्भित था। भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य का आचरण उसके नीच अथवा ऊँचपने का मूल कारण माना था उन्होंने स्पष्ट कहा कि संतान कर्म से चले आए हुए जीव के आचरण की गोत्र संज्ञा है। जिसका ऊँचा आचरण है उसका ऊँच गोत्र है और जिसका नीच आचरण है उसका नीच गोत्र है। शूद्र हो या कोई हो अथवा चाहे जो हो गुण का पात्र है वही पूजनीय है। देह या कुल की वंदना नहीं होती और ना ही जातियुक्त को ही मान्यता प्राप्त है। गुणहीन को कौन पूछे और माने? श्रमण भी गुणों से होता है श्रावक भी गुणों से होता है। महावीर जी के इस संदेश से जनता की मनमानी मुराद पूरी हुई और "वह" अपने

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगतावरम् ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमोनास्ति स्वयंवरे ॥

अर्थात्—स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि के अनुसार पुरुष का वरण करती है। वहां कुलीन और अकुलीन का विचार नहीं किया जाता है। उस युग उस समय विवाह क्षेत्र अति विशाल था। चारों वर्णों के स्त्री पुरुष सानन्द परस्पर विवाह सम्बन्ध करते थे। इतना ही क्यों, म्लेच्छ और वेश्याओं आदि से भी विवाह होते थे। राजा श्रेणिक ने ब्राह्मणी से विवाह किया था। जिसके उदर से मोक्षगामी अभयकुमार नामक पुत्र जन्मा था। वैश्य पुत्र जीवंधर कुमार ने क्षत्रिय विद्याधर गरुड़ वेग की कन्या गन्धर्वदत्ता को स्वयंवर में वीणा बजा कर परास्त किया और विवाहा था। स्वयंवर में कुलीन अकुलीन का भेद भाव नहीं था। विदेह देश के धरणी तिलका नगर के राजा गोविन्द की कन्या के स्वयंवर में उत्तम तीन वर्णों वाले पुरुष आये थे। जीवनधर कुमार के वे मामा थे। जीवंधर ने चन्द्रक यन्त्र को बेध कर अपनी मामा की कन्या के साथ पाणिग्रहण किया था। पल्लव देश के राजा की कन्या का सर्प विष दूर करके उसे भी जीवंधर ने ब्याहा था। वणिक पुत्र प्रीतंकर का विवाह राजा जयसेन की पुत्री के साथ हुआ था। विवाह सम्बन्ध करने में जिस प्रकार वर्ण भेद का भाव नहीं रखा जाता था वैसे ही धर्म विरोध भी उसमें बाधक नहीं था। वसुमित्र सेठी जैन थे किन्तु उन की पत्नी धनश्री अजैन थी। साकेत का जिनदत्त सेठी जैन था किन्तु उसके पुत्र पुण्यवर्धन का विवाह बौद्धधर्मानुयायी सेठ धनंजय की पुत्री जिनदत्ता से हुआ था। सम्राट् श्रेणिक के पिता उपश्रेणिक ने अपना विवाह एक भील कन्या से किया था।

भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त नन्दराजा महानन्दिन्

प्रकार बना जा सकता है? यह बताकर मेरा संशय दूर करो। परमात्मतत्त्व का वर्णन करते हुए महामुनि ने कहा:—

> न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
> न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥
> समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
> नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥
> कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
> वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥

अर्थात्:—

कोई मनुष्य पुरुष सर मुंडाने से श्रमण नहीं बन सकता। ओंकार के जपमात्र से ब्राह्मण नहीं बन सकता। जंगल में वास करने से मुनि नहीं बन सकता और न ही कुश चीर धारण से तपस्वी ही बन सकता है।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या करने से ही मुनि बना जा सकता है। ब्राह्मण का कर्म करने से मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है। क्षत्रिय का काम करने से क्षत्रिय, वैश्य का काम करने से वैश्य और शूद्र का काम करने से ही शूद्र बनता है।

महामुनि ने कहा कि इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त जो वास्तव में द्विजोत्तम हैं वे ही परमात्म तत्त्व को समझते हैं।

इसी प्रकार की कथा उत्तराध्ययन सूत्र के १२वें अध्ययन में भी आती है। यह कथा हरिकेशी मुनि की है। हरिकेशी मुनि का जन्म एक चाण्डाल कुल में हुआ था। तपस्या के प्रभाव से वे एक

इतर वर्णों का इस पर प्रभाव है। कौन समाज को चाहिए कि वह अपने उच्च सिद्धान्तों को कभी न भूले।

॥ बौद्धों में वर्णव्यवस्था ॥

बौद्ध जातकों में (वण्ण) अर्थात् वर्ण शब्द तो आता है किन्तु उसका प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं किया गया। "वण्ण" इस शब्द से बौद्ध काल में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व तो स्पष्ट प्रतीत होता है किन्तु बौद्धों की वर्णव्यवस्था भी जैनियों की तरह कर्ममूलक थी जन्म मूलक नहीं। कोई भी मनुष्य उत्तम कर्म से उत्तम वर्ण का बन सकता था। बौद्धधर्म में सब से उत्तम वर्ण क्षत्रिय का और फिर क्रमेण ब्राह्मण वैश्य और शूद्र का माना जाता है। इस व्यवस्था में भी बौद्धधर्म जैन धर्म से बिल्कुल समानता रखता है। जैन धर्म में भी वास्तव में उत्तम वर्ण क्षत्रिय को माना है। लघ्वर्हन्नीति आदि राजनैतिक तथा अन्य अनेक जैन धर्म ग्रन्थों में यद्यपि वर्ण व्यवस्था का क्रम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ही दिया है जिससे वैदिक वर्णव्यवस्था का ही पुष्टिकरण होता है किन्तु आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ स्वामी का मन्तव्य जिन्होंने सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयाइयों को मर्यादा में बांधा था उक्त सिद्धान्त को पोषण नहीं करता। आदिपुराण में लिखा है कि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों की व्यवस्था ऋषभ देव ने और ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था ऋषभ देव के पुत्र भरत ने की थी। जिस प्रकार ऋग्वेद में ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, इत्यादि मंत्र से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्र पैदा हुए, उसी प्रकार की इन चार वर्णों की उत्पत्ति जैन ग्रन्थ आदि पुराण में भी बताई गई है। आदि पुराण में लिखा है कि ऋषभदेव ने हाथ

में तलवार लेकर क्षत्रिय वर्ण की, उरु से चलने का संकेत करते हुए वैश्यवर्ण की और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति की। ऋषभ देव के पुत्र सम्राट् भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मुख से ब्राह्मणों को पैदा किया।

इस के अतिरिक्त कल्पसूत्र में जो महावीर स्वामी का जीवन चरित्र दिया गया है उससे भी जैन धर्म में क्षत्रिय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। भगवान् महावीर स्वामी पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आए। तब देवताओं ने सोचा कि सारे तीर्थंकर क्षत्रिय के उत्तम कुल में जन्म लेते आए हैं अतः यह अच्छा नहीं हुआ कि भगवान् महावीर स्वामी को ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना पड़ेगा। देवताओं ने हरिनैगमेशी देवता को गर्भ परिवर्तन का कार्य सौंपा। अन्त में हरिनैगमेशी देवता ने देवानन्दा ब्राह्मणी से उस गर्भ का अपहरण किया और त्रिशला क्षत्राणी की कोख में उस गर्भ की स्थापना की। कुछ विद्वानों ने इस गर्भ परिवर्तन को असम्भव माना है और कुछ ने रज से वीर्य की प्रधानता मान कर भगवान् महावीर को ब्राह्मण बताया है किन्तु यहाँ हमें इन बातों से कोई मतलब नहीं। यहां केवल इस घटना का उल्लेख करने का यही अभिप्राय है कि जैन धर्म में भी बौद्ध धर्म की तरह क्षत्रिय जाति को ऊंचा माना गया है। जैनधर्म क्योंकि बौद्धधर्म से प्राचीन है अतः संभव है कि वर्णव्यवस्था की इस मर्यादा को बौद्धों ने जैनधर्म से अपनाया हो।

अस्तु, बौद्ध जातकों में यत्र तत्र ऐसे कई कथानक मिलते हैं जिन से बौद्धधर्म का कर्मगत वर्णव्यवस्था को मानना सिद्ध होता है। एक कथा में एक क्षत्रिय राजकुमार किसी सुन्दरी के प्रेम में फंस कर कुम्हार और रसोइये आदि के काम को भी करने लगता है। इसी

प्रकार एक राजकुमार अपनी बहिन के लिये राज त्याग कर वैश्य बन जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् राइस डेविड्स अपनी 'बौद्ध भारत' Buddhist India नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"प्रायः सभी सामाजिक महत्व की श्रेणियों में स्त्री पुरुषों के पारस्परिक विवाहों के अनेक उदाहरण पुरोहितों के धर्मग्रन्थों में भी पाए जाते हैं। केवल यही नहीं किन्तु ऊंचे वर्णों के पुरुषों का नीच वर्ण की स्त्रियों से विवाह और नीचवर्ण के पुरुषों का ऊंचे वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह इस के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं।"

बहुत से विद्वानों का तो कथन है कि जन्मगत वर्णव्यवस्था के विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने जो आवाज़ उठाई थी उसी के परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म विश्व में व्यापक रूप से फैला। महात्मा बुद्ध के जन्म के पूर्व काल में जन्मगत वर्णव्यवस्था बहुत भयानक रूप धारण किये हुए थी। उस समय भारतीय समाज में ब्राह्मण ही सर्वेसर्वा थे। उन्होंने जन्मगत वर्णव्यवस्था का प्रचार करके समाज से अनुचित लाभ उठाया, और अपना स्वार्थ सिद्ध किया। उन्होंने जन्मगत वर्णव्यवस्था की व्याख्या करके चारों वर्णों के लिये पृथक् पृथक् कानूनों की रचना की जिनमें अपने लिये अनुचित दया की व्यवस्था की और छोटी जातियों के लिये अनुचित कठोरता की व्यवस्था दी। शूद्र जाति को अत्यावश्यक शिक्षा आदि अनेक जीवन की सुविधाओं से वंचित किया। ब्राह्मण वर्ण के लोग उस समय अपने उच्च आचरण से पतित होने लग गए थे और मानवता को भूल गए थे। ऐसे युग में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। महात्मा बुद्ध ने अन्धविश्वास, अत्याचार और अन्याय का पूर्णशक्ति से विरोध किया और लोगों को कल्याण किया। इसी सत्य की पुष्टि करते

इस सुयोग्य वैदिक विद्वान् पं० गंगाप्रसाद जी एम. ए. अपनी 'धर्म का आदि स्रोत' नामक पुस्तक के ३९ पृष्ठ पर लिखते हैं:-

" बुद्ध के प्रादुर्भाव के कुछ पूर्व वैदिकधर्म के इतिहास में घोर अन्धकार का समय था। वेद और उपनिषदों का पवित्र और प्रशस्त धर्म अवनत होकर निरर्थक कृत्य और हिंसापूर्ण 'यज्ञादि' का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। वैदिक वर्णव्यवस्था जो आरम्भ में गुणकर्मानुसार थी बिगड़ कर वंश परम्परागत जातिभेद में परिवर्तित हो गई थी। इस का यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मण लोगों ने केवल 'जन्म से' अपनेको बड़ा मान कर वेदाध्ययन तथा उन सद्ग्रन्थों को त्याग दिया जिनके कारण उनके पूर्वजों की समुचित प्रतिष्ठा की जाती थी। यह सदाचारिक और धार्मिक अधःपतन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न रह सका। सन्यासी लोग भी धार्मिक-ज्ञान आन्तरिक पवित्रता, मधुरशीलता आदि सर्व छोड़ कर तपस्या का केवल बाहरी आडम्बर दिखलाने को रखते थे। साधारण लोग भी वैसे सीधे, सच्चे, पवित्र और सद्गुण सम्पन्न न रहे जैसे कि वैदिक काल में थे। वे लकीर के फकीर और विलास प्रियता के चेले बन गए। प्राचीन आर्यों के सात्विक भोजन का स्थान आमिषाहार ने छीन लिया। उसे शास्त्रोक्त सिद्ध करने के अभिप्राय से यज्ञों में पशुओं का वध किया जाता था और उनके मांस से आहुति दी जाती थी।

बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय वैदिकधर्म, या यों कहिये कि आर्यों की सामाजिक-स्थिति इस प्रकार की हो गई थी। बुद्धदेव के हृदय पर पशुबलि दान और जातिभेद इन दो बुराइयों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन का कोमल और प्रेम-पूर्ण हृदय धर्म के नाम पर इनके निरपराध-
——→ के रक्त प्रवाह को न सह सका। उनका पवित्र आत्मा इस

[illegible] और [illegible] जातिभेद के विरुद्ध संग्राम करने की उत्कंठा हो गया। और इसमें उन्होंने अनुसन्धान के लिये [illegible] और उसके आचार के लिये विशेष उत्साह दिखाया। वस्तुतः यह बुराई इतनी अधिक हो गई थी कि बुद्ध भगवान् के पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने भी उसे बुरा कहा था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सब बातों में इस जातिभेद की व्यापकता हो गई थी। यहाँ तक कि देश के कानून पर भी इस का प्रभाव पड़ चुका था। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये पृथक् पृथक् कानून बन गए थे। ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित दया और शूद्रों के साथ अनुचित कठोरता का व्यवहार किया जाता था। ये बातें बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकती थीं। शूद्र कितने ही धार्मिक और गुणवान् क्यों न हों परन्तु न तो उन्हें धार्मिक शिक्षा देने का ही कहीं प्रबन्ध था और न उनकी समाज में ही कुछ प्रतिष्ठा थी। वे लोग इन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के अवसर की ताक में बैठे थे। वे इस निर्दय प्रथा के पंजे में फँसे हुए थे, जिस ने उन्हें उच्च सोसाइटी के संसर्ग से बुरी तरह बहिष्कृत कर रक्खा था। उनकी लालसा थी कि इस स्थिति में परिवर्तन हो। द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी ऐसे अनेक उदाशय उदार प्रकृति पुरुष थे जो उनकी इस लालसा से सहानुभूति रखते थे। अतएव 'क्रान्ति' का समय [illegible] था और इस विचार के लिये असाधारण [illegible] की [illegible] थी कि समय आवेगा जब लोग इस हानिकर प्रथा के विरुद्ध युद्ध मचा कर अपनी बेड़ियों को तोड़ डालेंगे। वह अवसर आ गया। शाक्यकुलोत्पन्न एक क्षत्रिय ने घोषणा की कि समस्त मनुष्यों की स्थिति जन्म से नहीं अपितु गुणों से होती है। [illegible] और [illegible] हो [illegible] में [illegible] का [illegible]

बातें सुनते होंगे। बहुत से द्विजन्मा आर्य लोग भी उनके पवित्र धार्मिक उद्देश्य से सहमत हो गए और बौद्ध धर्म देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया।"

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने जन्म सिद्ध जाति-व्यवस्था का विरोध और खण्डन करके उच्च कहलाने वाली जातियों के अन्याय और अत्याचारों में पिसती हुई दलित जाति को अपने गले लगाया। और मनुष्य जाति को मानवता का सच्चा मार्ग प्रदर्शित किया।

अगस्त १६४० के 'अनेकान्त' पत्र में श्री डा० वी. एल जैन ने महात्मा बुद्ध के उच्च कुल और उच्च जाति के विषय में महावाक्य इस प्रकार दिये हैं।

"ऊंची जाति, पुराना कुल, बाप दादा से पाया हुआ धन, पुत्र पौत्र, रूप रंग आदि का जो अभिमान करता है। उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं। क्योंकि इन के पाने के लिये उसने कौनसी बुद्धि खर्च की। किसी बुद्धिमान् ने कहा है कि जो लोग बड़े घराने के होने की डींग मारते हैं वे उस कुत्ते के सदृश हैं जो सूखी हड्डी निचोड़ कर मगन होता है।"

महान् पुरुष के लक्षण हैं—(१) जिसे दूसरे की निन्दा बुरी लगती है और ऐसी बात को अनसुनी करके किसी से उसकी चर्चा नहीं करता। (२) जिसे अपनी प्रशंसा नहीं सुहाती पर दूसरे की प्रशंसा से हर्ष होता है। (३) जो दूसरों को सुख पहुंचाना अपने सुख से बढ़ कर समझता है। (४) जो छोटों से कोमलता और

दया भाव तथा बड़ों से आदर सत्कार के साथ व्यवहार करता है। ऐसे पुरुष को महापुरुष कहते हैं। केवल धन या ऊंचा कुल या जाति और अधिकार से महानता नहीं आती।"

अनेक योग्य विद्वान् और देश हितैषी पुरुष जिनकी कीर्ति की ध्वजा हजारों वर्ष से संसार में फहरा रही है, प्रायः नीचे कुल से उत्पन्न हुए थे। ऊंचे कुल और ऊंची जाति का होने से बड़ाई नहीं आती। प्रकृति पर ध्यान करो तो यही दशा अकस्मात तक चली गई है कि छोटी वस्तुओं में बड़े रत्न होते हैं—देखो कमल कीचड़ से ही निकलता है, सोना मिट्टी से, मोती सीप से, रेशम कीड़े से, जहर-मोहरा मेंडक से, कस्तूरी मृग से, आग लकड़ी से, मीठा शहद मक्खी से, ("महात्मा बुद्ध")

इस के अतिरिक्त बौद्धों में जो शुद्धि का प्रचार था वह कर्म मूलक वर्णव्यवस्था के कारण ही चल सका। यदि बौद्धों में शुद्धि का प्रचार न होता तो बौद्ध धर्म इतना महान् धर्म कभी न बन पाता जितना कि आज है।

इस प्रकार वैदिक, जैन बौद्ध इन तीनों महान् धर्मों में वर्णव्यवस्था प्रारंभ से ही जन्म से नहीं मानी जाती थी किन्तु इसका आधार योग्यता पर अवलम्बित था। जो मनुष्य विद्या, सत्य, सदाचार, अध्ययन और आध्यात्मिक विद्या में उत्कृष्ट योग्यता प्राप्त कर लेता था वह ब्राह्मण बन जाता था, जो वीरता के काम में नैपुण्य प्राप्त करता था वह क्षत्रिय कहलाता था, जो वाणिज्य और शिल्पकला में प्रख्याति प्राप्त करता था वह वैश्य कहलाता था और जो सेवाभाव में अपना जीवन लगाता था उसको लोग शूद्र समझते थे। तीनों धर्मों के सिद्धान्त किसी भी व्यक्ति को दैवयोग से शूद्र कुल

में उत्पन्न होने के कारण आजन्म जीव कोई करने को बाध्य नहीं करते थे।। मानव समाज का संगठन वैयक्तिक और सामूहिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित था। देशकाल और परिस्थिति के परिवर्तन के कारण वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में भेदक विचार अवश्य उत्पन्न होते गए किन्तु तीनों के अन्तस्तल में एक ही संस्कृति की झलक पूर्ववत् ही विद्यमान है। शुद्ध भारतीय जीवन रेखा अति प्राचीनकाल से तीनों धर्मों का आधार रही है। अनेक युगों से भारत के जीवन के प्रवाह को प्रसारित करने वाली सरिता एक ही है। किन्तु प्रवाह भिन्न हैं। एक ही वृक्ष की अनेक शाखायें हैं और एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं।

जैन धर्म में स्त्री का स्थान

अनेक सदियों से भारत की प्रायः सभी जातियों और धर्मों में स्त्री का स्थान बहुत गिर चुका है। उसको मनुष्य से नीची श्रेणी का समझा जाने लगा है और अनेक सामाजिक सुविधाएं जो पुरुष को प्राप्त हैं स्त्री उन से वंचित है। पुरानी रूढ़ियों के रङ्ग में रङ्गे हुए और अपने को एक मात्र प्राचीन भारतीय संस्कृति का खज़ाना मानने वाले बहुत से लोग आज भी जब कि संसार के और भागों के लोग बहुत आगे बढ़ चुके हैं स्त्री जाति को पुरुषों की काम वासना की तृप्ति का साधन या सन्तानोत्पत्ति की मशीन मात्र समझते हैं। उसको अबला कहा जाता है और अनेक दुर्गुण उसके सिर पर लादे जाते हैं। बहुत से दोष तो प्राकृतिक रूप में जन्म से ही उसमें माने जाते हैं। मनु महाराज जी लिखते हैं कि:-

स्वभाव एव नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥

अर्थात्:- इस लोक में पुरुषों को विकार भ्रष्ट कर देना, यह तो नारियों का स्वभाव ही है, इसी लिये, बुद्धिमान पुरुष नारियों की ओर से, कभी असावधान नहीं रहते। संसारमें कोई मूर्ख हो, चाहे विद्वान, कामक्रोध के वशीभूत हुए पुरुष को स्त्रियां अनायास कुमार्ग में लेजा सकती है।

अर्थात्—सब दानों से उत्तम दान आशीर्वाद करने का है। इस प्रकार स्त्री को रुपये पैसे की तरह दान की सामग्री भी बनाया गया।

धन के लोभी घरानों में तो कन्या की बिक्री आजकल भी प्रचलित है।

पुत्र के जन्म पर लोग बधाई देने आते हैं और कन्या के जन्म पर सब की नानी मर जाती है। जिन स्त्रियों के तब कन्याएँ उत्पन्न होती हैं लोग उनके दर्शन करना पाप समझते हैं और पति उनको छोड़कर दूसरे विवाह कर लेते हैं। जिस स्त्री के कोई सन्तान न होती हो तो दोष चाहे पुरुष का ही हो किन्तु वह भी स्त्री के गले मढ़ दिया जाता है। नव विवाहिता वधू के आने के बाद घर में यदि कोई दुर्घटना हो जाए तो वह भी उसी बेचारी के कर्मों का परिणाम समझा जाता है। अधिक कहां तक लिखा जाय दुनिया भरके दोष स्त्री पर थोपे जाते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है:—

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम्।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः ॥३८।२६

अर्थात्:—यम, वायु, मृत्यु पाताल, बड़वानल, छुरे की धार, विष, सर्प और अग्नि के साथ नारी की तुलना की जा सकती है।

चिरकाल से चले आते स्त्री जाति के इस अपमान के प्रवाह में परम भक्त महात्मा कबीर दास भी बह गए। जरा उन की विचार धारा पर ध्यान डालिये:—

नारी की झांई परत अंधा होत भुजंग,
कबीर तिन की कौन गति, नित नारि के संग ॥

कामिनी सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तिहि खाय।
जे गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥

पर नारी पैनी छुरी मति कोई लावे अङ्ग।
रावण के दस सिर गए, पर नारी के संग॥

नारि निरखि न देखिये, निरखि न कीजे दौर।
देखे ही ते विष चढ़ै, मन आवै कछु और॥

नारि नाहिं जम आहे, तू मत राचे जाय।
मंजारी ज्यों बोलिके, काढ़ि कलेजा खाय॥

नैनों काजर पाइके गाढ़े बांधे केस,
हाथों महंदी लाइके, बाघनि खाया देस॥

इस प्रकार समाज को अवनति की ओर ले जाने वाले अन्ध विश्वासी और संकुचितवृत्ति के कूपमंडूकों की कृपा से भारत में स्त्री को अनेक कुत्सित अपमानों का भाजन बनना पड़ा है। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय नारी अपनी जाति को पाप कर्मों का फल या ऐश्वरीय अभिशाप समझे तो स्वाभाविक ही है। परन्तु अब विचारणीय बात यह है कि क्या अनादिकाल से वास्तव में स्त्री जाति को इसी दृष्टि से देखा जाता रहा है? इसका उत्तर यही मिलता है—कदापि नहीं। इस में सन्देह नहीं कि चिरकाल से स्त्री जाति को अनेक यन्त्रणाओं का सामना करना पड़ा है और उसने बड़े २ रोमांचकारी अपमान सहे हैं किन्तु वास्तव में जब हम भारतीय संस्कृति की गहराई तक पहुंचते हैं तो स्त्री जाति का स्थान बहुत ऊँचा पाते हैं। पुरुष की सब क्रियाएं स्त्री के बिना अपूर्ण होती हैं। क्रियायें ही क्यों वह स्वयं उसके बिना अपूर्ण है। पत्नी को 'अर्धाङ्गिनी' अर्थात् पुरुष का आधा अङ्ग माना जाता है। अतः पुरुष स्त्री के बिना पूर्णाङ्ग नहीं कहा जा सकता 'विष्णु-पुराण' के चौथे

कि जब २ स्त्री जाति को उसकी शक्तियों के विकास के लिये उचित मौका दिया गया तो वह किसी क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रही। जिन कार्यों को पुरुषों ने किया उनको स्त्रियां भी कर लेती थीं। विद्या के क्षेत्र में ही देखिये। जिस प्रकार वेदों में प्राचीनतम ऋग्वेद के मंत्रों के बनाने वाले या द्रष्टा (पुरुष) ऋषि थे इसी प्रकार लोमशा, घोषा, विश्ववारा इन्द्राणी और अपाला आदि स्त्रियां भी वेदमंत्रों की ऋषि थीं। गार्गी और सरस्वती की विद्वत्ता से सब परिचित हैं ही। आज कल भी अमेरिका में भारत की राजदूत श्री विजय लक्ष्मी पण्डित और स्वर्गीय उत्तर प्रदेश की गवर्नर श्रीमती सरोजनी नायडू की विद्वत्ता से कौनसा भारतीय परिचित नहीं है। भारत ही क्यों भारत की इन अद्वेय माताओं की विद्वत्ता विश्वभर में प्रख्यात है। इसी प्रकार विदेशों में भी मेडम क्यूरी आदि अनेक महिलाओं ने विज्ञान क्षेत्र में बड़े २ आविष्कार करके कमाल कर दिया है। इसी प्रकार वीरता के क्षेत्र में भी स्त्री पुरुष से पीछे नहीं रही। पुरुषों की भान्ति स्त्रियां भी बड़े २ संग्रामों में वीरता दिखाती आई हैं। मुद्गल पत्नी इन्द्रसेना ने बड़ी चतुराई से संग्राम में रथ हांका था और बड़ी वीरता से उस ने इन्द्र के शत्रुओं का नाश किया था। अस्त्र संचालन कला में वह बड़ी प्रवीण मानी जाती थी। जब शत्रु गऊएं चुराकर जाने लगे इस वीर नारी ने उन से ऐसा युद्ध किया कि वे गौएं वहीं छोड़कर अपनी जान लेकर भागे।

पुराने समय को छोड़कर भारत पर मुगल और
शासन के कुछ उदाहरण लीजिये। रानी दुर्गावती ने आसफखां को कैसे संग्राम भूमि में पछाड़ा था। अमरसिंह राठौर की वीरपत्नी किस प्रकार लड़ते लड़ते अपने पति की लाश मुगल कोर्ट से उठा लाई थी। कोल्हापुर की रानी ताराबाई, [illegible] की श्री अनुबाई,

यन्ती आदि अनेक हिन्दू महिलाओं के चरित्र इस सत्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। रावण जब सीता को बलात् उठा कर ले गया तो लंका में जाकर उसने सीता को बहुत लालच दिये, प्रार्थना की और बहुत आराधना की किन्तु उस के कहने की बिल्कुल अवहेलना करते हुए सीता ने जो कुछ कहा वह भारतीय नारी के गौरव को सदा बढ़ाता रहेगा। सीता ने कहा:—

चरणेनाऽपि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥

अर्थात्:—इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही मैं तो इसे अपने बांए पैर से भी नहीं छू सकती।

इसी प्रकार प्रजा के अनुरंजन के लिये राम ने अपनी प्राण-वल्लभा सीता को वन में त्यागने का निश्चय कर लिया। सीता उस समय गर्भवती थी। जंगल में छोड़ने का भार लक्ष्मण पर छोड़ा गया और सीता को यह रहस्य घर पर नहीं बताया गया। जंगल में छोड़ते हुए लक्ष्मण ने जब सीता को यह बताया कि राम ने उसका त्याग कर दिया है तो सीता को यह वज्रपात के समान लगा। जनता के समक्ष सीता की अग्नि परीक्षा हो चुकी थी और यह सिद्ध हो चुका था कि उस का चरित्र निर्मल था, फिर उसपर संदेह क्यों किया जाय? फिर गर्भावस्था का समय। कितना कठिन है ऐसी घोर विपत्ति में धीरज रखना? परन्तु, सीता जानती थी कि उस के पति मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे उसका बुरा कभी नहीं चाह सकते। उसने लक्ष्मण से कहा:—

कल्याणबुद्धेरथवा, तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुर प्रसह्यः ॥

अर्थात्:— [illegible] बुद्धि [illegible] के सामने [illegible] की प्रशंसा करते थकते हैं । यह मेरे, जिसे किसी [illegible] की वस्तु की स्वप्न में भी कल्पना भी कर सकते हैं । यह सब मेरे ही जन्मान्तर के पापों का फल है ।

ये हैं उच्चाचरण और सहनशीलता की पराकाष्ठा के आदर्श उदाहरण जो भारत की नारियों ने संसार के सामने रखे हैं ।

कला कौशल और भौतिक विद्या में तो पाश्चात्य देशों की महिलाएं भी बड़ी उन्नति कर गई हैं किन्तु भारतीय नारी में जो खास विशेषता है वह है ब्रह्म विद्या के क्षेत्र में उतरने की । यह तपस्यापूर्ण आध्यात्मिक विशेषता अन्य देश की स्त्रियों में कम ही मिलती है । याज्ञवल्क्य ऋषि संसार के जीवन से विरक्त हो गए । जब वह अरण्य में जाने लगे तो उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी से जाने की आज्ञा मांगी । मैत्रेयी को ऐश्वर्य धन दौलत देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि तुम संसार में रह कर स पत्न और शान्तिमय जीवन व्यतीत करना । इसके उत्तरमें मैत्रेयी ने कहा:—

येनाहं नामृता स्यां तेनाहं किं कुर्याम् ॥

(बृहदारण्यक)

अर्थात्:— क्या मैं इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी जिससे मुझे अमरता प्राप्त न हो उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी ? भोगों में कभी शान्ति नहीं मिला करती । भारत की स्त्री के इस प्रकारके आध्यात्मिक और सत्यपूर्ण उदाहरण स्त्री जाति के महान् गौरव को सदा बढ़ाते रहेंगे ।

इस प्रकार जब हम प्राचीन भारतीय साहित्य का विश्लेषण करते हैं और उस की गहराई तक पहुंचते हैं तो इस निर्णय पर पहुंचते

है कि भारत की संस्कृति में स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा है। पुरुष और स्त्री दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। पुरुष जनक है तो स्त्री जननी है। भारतीय संस्कृति में जननी का स्थान बहुत ऊँचा है:—

जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी ॥

अर्थात्:- जनन और जन्मभूमि ये दोनों स्वर्ग से भी बढ़ कर हैं। जहां और बहुत से देश अपने देश को पितृभूमि कहते हैं हम अपने देश को मातृभूमि के नाम से पुकारते हैं। यह मातृत्व के प्रति असीम श्रद्धा का ही परिणाम है कि भारतीय द्वन्द नामों में भी प्रथम स्थान स्त्री को दिया जाता है। जैसे– सीता राम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, स्त्री पुरुष और माता पिता आदि। इन सब नामों में स्त्री का स्थान पहिले है। इस का कारण यही है कि स्त्री में मातृत्व का माधुर्य और महत्व है। पुरुष उस के बिना कुछ नहीं कर सकता और वह पुरुष को सन्मार्ग दिखाने वाली है और उस के भविष्य का निर्माण करने वाली है। जिस राष्ट्र की माताएं सुयोग्य हों वहां महापुरुष जन्म लेते हैं। भगवान् राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी आदि अनेक महात्माओं और महापुरुषों को माताओं ने ही जन्म दिया अतएव मनु महाराज के इस महावाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिये:–

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता: ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राऽफला: क्रिया: ॥

मनु अ० ३ श्लोक ५६.

अर्थात्:– जिस किसी भी कुल में स्त्रियों का पूजन या आदर सत्कार भली प्रकार होता है उस कुल पर देवता तक प्रसन्न रहते हैं।

और जहां स्त्रियों का अपमान होता है वहां सभी कर्म निष्फल होते हैं।

आगे फिर मनु जी लिखते हैं:—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैताः वर्धते तद्धि सर्वदा॥

मनु. अ० ३, श्लोक ५७.

अर्थात्:— जिस किसी कुल की बहुबेटियां किसी प्रकार का क्लेश पाती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। किन्तु जहां पर इन्हें किसी तरह का क्लेश नहीं होता वह कुल सब प्रकार सुख सम्पन्न रहा करता है।

॥ जैन धर्म में ॥

स्त्री के लिये आदर स्थान देने वाले वैदिक धर्म की तरह जैन धर्म में भी स्त्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। किसी भी संस्कृति की उच्चता की कसौटी स्त्री के प्रति तत्कालीन समाज का व्यवहार है। जैन संस्कृति में अनादिकाल से स्त्री जाति को बड़े आदर सत्कार और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। जैनधर्म के अवतारों को तीर्थंकर नाम से पुकारा जाता है। तीर्थंकर का अर्थ है तीर्थोंकी स्थापना करने वाले। तीर्थ चार हैं, श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी। श्रावक के साथ श्राविका को और साधु के साथ साध्वी को समान रूप से धर्माचरण की आज्ञा दी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग् चारित्र ये तीन जैन धर्म के रत्न माने जाते हैं। इन तीनों को उचित रीति से जीवन में उतारने के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक है जिस का विधान जैन-धर्म में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान है। जैनधर्म ग्रन्थों में लिखा है आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी के

लिपि के लेखन कला का आविष्कार किया। उन्हीं की पुत्री के नाम पर लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। आज कल जो नागरी लिपि प्रचलित है इस का प्राचीन नाम ब्राह्मी है। इस से यह स्पष्ट है कि जैनियों के तो आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव भी पुरुष की भाँति स्त्री को सुशिक्षित बनाना परमावश्यक समझते थे। अतः जैन समाज में स्त्री शिक्षा का प्रचार और अधिकार अनादिकाल से चला आता है। नन्दोत्तरा नाम का जैन श्राविका की विद्वत्ता से कौन जैन परिचित नहीं। वह शास्त्रार्थ के लिये बहुत प्रख्यात था। उसने ही बौद्धाचार्य महामौद्गल्यायन से शास्त्रार्थ किया था। सुरसुंदरी और गुणमाला ये दोनों वैश्य कन्याएं वैद्यक शास्त्र की बड़ी पण्डिताएं थीं। इस से यह भी सिद्ध होता है कि स्त्री चिकित्सा के लिये वैद्यकशास्त्र में कुशल स्त्री चिकित्सक मिल सकती थीं और उत्तम कुल की कन्याएं वैद्यक व्यवसाय को प्रसन्नतापूर्वक अपनाती थीं। क्षत्रचूडामणि काव्य में लिखा है कि जीवंधर की माता मयूरयन्त्र नामक वायुयान में उड़कर क्रीड़ा करती थी। इस से स्पष्ट है कि कठिन से कठिन शारीरिक काम करने में भी स्त्रियां संकोच नहीं करती थीं। और पुरुष के समान ही मशीनरी का सञ्चालन और उस का ज्ञान करना अपने लिये आवश्यक समझती थीं। इस से जैन साहित्य के प्राचीन काल में वायुयान जैसे किसी यंत्र के अस्तित्व का पता चलता है।

● विवाह ●

कन्याएं जब पढ़ लिख कर पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो जाती थीं तभी उन का विवाह संस्कार किया जाता था। उस विवाह को बहुत गुरु माना जाता था। यदि पिता किसी प्रकार से अपनी कन्या को अपनी इच्छा पर ही देता था तो कन्या को युवावस्था तक पहुंचाने

तक उसका विवाह रोक रखा जाता था। कर्मकर्ता की इसी कारण अपने निर्दिष्ट पति से पृथक् रहने की आज्ञा दी गई थी। वैसे तो कन्या का पिता भी सुयोग्य वर ढूँढ देता था किन्तु स्वयंवर की प्रथा उत्तम मानी जाती थी। कन्या अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल योग्य वर चुन सकती थी। वह वर किसी भी जाति का हो इस की चिन्ता नहीं की जाती थी:—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरम्।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥
(हरि० जिनदासकृत)

अर्थात्:— स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि के अनुकूल सुयोग्य वर को चुन लेती है। वह वर उच्चकुल का हो या नीचकुल का इस का विचार नहीं किया जाता।

इस प्रकार जैनधर्म में विवाह का क्षेत्र इतना विशाल था कि कुलीनता, अकुलीनता उच्च या नीच वर्ण या भिन्न धर्म का कोई प्रतिबन्ध न था। यही कारण है कि राजा श्रेणिक ने ब्राह्मणी से विवाह कर लिया था और वैश्य पुत्र जीवंधरकुमार ने क्षत्रिय की कन्या गन्धर्वदत्ता को स्वयंवर में विवाहा था। वणिक पुत्र प्रीतंकर ने अपना विवाह राजा जयसेन की पुत्री के साथ किया था। नन्द राजा [illegible] की रानियों में एक शूद्र रानी भी थी। इसी तरह धर्म की भिन्नता भी विवाह में बाधक नहीं बन सकती थी। [illegible] जैन थे किन्तु [illegible] की पत्नी चलनी अजैन थी। पुष्पदन्त जैन था किन्तु उसकी पत्नी [illegible] पिता ने अपना विवाह एक [illegible] कन्या से किया था। इसी तरह [illegible] का विवाह [illegible] के साथ हुआ था। इस प्रकार प्राचीन जैन समाज के विवाह के लिये

विशेष अन्तर न थे। स्त्री जाति को बड़ स्वतन्त्रता थी और विवाह का क्षेत्र बहुत विशाल था।

॥ परदा प्रथा ॥

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परदा हानिकारक ही सिद्ध होता है। जिस वस्तु को जितना अधिक छिपाने की कोशिश की जाय उतनी ही देखने वालों की उत्कण्ठा उसे देखने के लिये बढ़ती है। पर्दे के अन्दर छिपा हुआ स्त्री का मुखमण्डल दर्शनेच्छुकके चित्त को बेचैन कर देता है। मनुष्य उस के दर्शन के लिये पता नहीं क्या २ विकृत विचार अपने मन में लाता है और तरह २ का अभिनय करता है। यदि वही मुख मण्डल खुला हो तो व्यर्थ की उत्कंठा से सभी मुक्त रहते हैं। अब देखना यह है कि पर्दे का कारण वास्तव में है क्या ? कुछ लोगो का कहना है कि पर्दे से स्त्री के शीलकी रक्षा होती है। वे लोग स्त्री की आटे के दीपक के साथ तुलना करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आटे के दीपक को अन्दर रक्खो तो चूहों का डर बाहर रक्खो तो कौओं का। ठीक इसी प्रकार का डर स्त्री को भी है, इस लिये उसे लुकाकर ही रखना चाहिये और इस में उसके नाम 'लुगाई' की भी सार्थकता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होते हैं। पर्दा शील की रक्षा में कोई सहायता नहीं कर सकता। शील की रक्षा के लिये तो ज्ञानबल और आत्मबल की आवश्यकता है। जो स्त्री पातिव्रत्य धर्म के महत्त्व को अच्छी तरह समझती है और उसका पालन करती है वह नंगे बदन भले ही कहीं भी फिरे किसी पुरुषकी क्या शक्ति है कि उसपर कुदृष्टि डाल सके। यदि स्त्री के विचार ही दूषित हों भले ही आप उसको कितने पर्दों में रक्खें आप उसके शील की रक्षा करने में कभी भी सफल नहीं हो

सकेंगे। शील की रक्षा बाह्य बन्धनों से नहीं हो सकेगी किन्तु आत्मिक बन्धनों से हो सकती है। अतएव शील की रक्षा के लिये पर्दे का अपनाना सर्वथा वृथा है। इस के अतिरिक्त पर्दे की प्रथा स्त्री के स्वास्थ्य के लिये भी बहुत हानिकारक है। हम देखते हैं कि आज जिन प्रान्तों और जातियों में पर्देकी प्रथा भयानक रूप धारे हुए है उनकी स्त्रियां कमज़ोर, अशिक्षित और अनेक भयानक रोगों से ग्रस्त पाई जाती हैं। वे आदर्श गृहिणी बनने के प्रायः सभी गुणों से वञ्चित होती हैं। मेरे विचार से पर्दा प्रथा हमारी अपनी चीज़ नहीं है किन्तु दीर्घ काल के यवन शासन से हमारे में आई है। अस्तु—प्राचीन जैनधर्म इस पर्दे की कुप्रथा के रोग से मुक्त था। जैन महिलाएं घर की चार-दीवारी की जेल में बन्द नहीं की जाती थीं। वे घर से बाहिर काम काज के लिये आती जाती थीं और समय समय पर विद्वानों से शास्त्रार्थ तक करती थीं। जब वे घर से बाहिर जाती थीं तो लोग उन्हें बड़ी श्रद्धा और सन्मान के साथ देखते थे। साधारण स्त्रियों की तो बात ही क्या रानियां तक राजदरबारों में खुल्लमखुल्ले चली जाती थीं। उत्तर पुराण में लिखा है कि एक बार राजा सिद्धार्थ राजदरबार में बैठे थे। रानी त्रिशला उन से मिलने के लिये वहां पहुंची। सिद्धार्थ ने बड़े सम्मान से उस को अपने पास राजसिंहासन पर बैठाया। अन्य सब राजकीय कार्यों की अपेक्षा करके सर्वप्रथम उन्होंने त्रिशलादेवी के आने का कारण पूछना चाहा। इस से यह स्पष्ट है कि प्राचीन जैन समाज में पर्दे जैसी भयानक कुप्रथा न थी। वर्तमान जैन समाज के भी काफ़ी लोग इस पर्दे की प्रथा के रोग से बुरी तरह से ग्रस्त हैं। उनको अपने प्राचीन धर्म से शिक्षा लेनी चाहिये और पर्दे के बन्धन को तोड़ कर स्त्री जाति में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये। शिक्षा के बिना स्त्री जाति में जागृति नहीं आ सकती और उस जागृति के बिना चन्दन बाला, मृगावती, और सुभद्रा जैसी देवियां जैन समाज में पैदा न हो सकेंगी। अतः जैन गृहस्थों

को अब जागना चाहिये। सारा संसार आगे बढ़ता जा रहा है और आप भी अपनी संस्कृति को पहिचानिये।

॥ धार्मिक जीवन ॥

पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किन्तु स्त्रियां एक पतिव्रत धारिणी होती थीं। गृहस्थ आश्रम में गृहस्थ के भार के संभालने के साथ २ स्त्रियां धार्मिक कार्यों की उपेक्षा नहीं करती थीं। प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना और संतों की सेवा में बैठकर धर्मग्रन्थ श्रवण करना ये उनके नित्यकृत्यों के प्रधान अंग थे। वे अपने पति में बड़ी श्रद्धा और प्रेम रखती थीं। जब वे उन की इच्छा के विपरीत कार्य करते थे तो वे अपने अधिकार को भूलती न थीं और उन्हें युक्तियों द्वारा समझा कर ठीक कर लेती थीं। जम्बूकुमार जब दीक्षा लेने के लिये तैयार हुए तो उन की पत्नियों ने उन को खूब समझाया और घर पर रहने के लिये बाध्य किया। जम्बूकुमार ने उन की सम्मति को प्रेमपूर्वक सुना और उस का पालन किया। इस से भी पता चलता है कि पति भी अपनी पत्नियों के उचित आग्रह की अवहेलना नहीं करते थे। आपत्तिकाल में स्त्रियां अपने शील की रक्षा भी बड़े साहस से करती थीं। चन्दन बाला की माता धारिणी, और महासती, राजीमती इस सत्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

चम्पा नगरी में दधिवाहन नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था जो बड़ी ही रूपवती थी। उस पर कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चढ़ाई कर दी। दधिवाहन जंगल में भाग गया। शतानीक के एक योद्धा ने राजमहल को लूट लिया और धारिणी को अपने काबू में कर लिया। वह उस पर आसक्त हो गया। धारिणी के

बहुत समझाया बुझाया परन्तु वह कामान्ध हो रहा था अतः बलात्कार से अपनी वासना पूर्ण करने के लिये तैयार हो गया। सतीजी ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये तुरन्त अपनी जीभ खींच कर बाहिर निकाल दी और प्राण दे दिये। इस प्रकार अपने शील की रक्षा के लिये धारिणी ने अपने प्राणों की बलि दे दी और, चोरा के जीवन को भी इस आत्मोत्सर्ग के द्वारा धार्मिक जीवन में बदल डाला।

जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जी बाल्य काल से ही विरक्त थे। विवाह की इच्छा न होने पर भी उन की सगाई मथुरा के राजा उग्रसेन की गुणवती पुत्री राजीमती से कर दी गई। वे बड़ों के अनुरोध को टाल न सके। जब बरात उग्रसेन के यहां पहुंची तो नेमिनाथ ने बरातिओं के भोजन के लिये लाए गए पशुओं का बाड़ा भरा देखा। वे अपने विवाह के निमित्त निरपराध पशुओं का वध न देख सकते थे। वे वहां से भाग गए और गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा लेली। जब राजीमती को इस बात का पता चला तो उसने भी पति का अनुसरण किया और दीक्षा लेली। दूसरे किसी कुमार के साथ विवाह करने के माता पिता के प्रस्ताव को उस ने ठुकरा दिया। दीक्षित अवस्था में एकबार जब वह गिरनार पर्वत पर जा रही थी तो वर्षा के कारण उस के वस्त्र भीग गए और उन्हें सुखाने के लिये वह एक समीप की गुफा में चली गई उसी गुफामें एक रथनेमि नामका साधु बैठा था। वह राजीमती के रूप लावण्य को देख कर कामासक्त हो गया और रति की प्रार्थना करने लगा। राजीमती आदर्श जैन महासतियों में से थी। वह अपने शीलधर्म को कब भूलने वाली थी। उसने कहा:—

जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकुब्बरो।
तहा विवेन इच्छामि जइ सि सक्खं पुरंदरो॥

धिरत्थु ते ऽजसो कामी जो तं जीविय कारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं से; यं ते मरणं भवे॥

उत्तरा॰ अ॰ २२ श्लोक. ४१. ४२

अर्थात्:— हे रथनेमि यदि तुम रूप में साक्षात् कामदेव लीला में नल कुबेर या इन्द्र भी होते भी मैं तुम्हारी कामना नहीं कर सकती। तुम्हें धिक्कार है कि तुम वासनामय वमन किये हुए भोगों को त्याग कर उन्हें फिर भोगने की इच्छा कर रहे हो। इस प्रकार के पतित जीवन से तो तुम्हारा मरना ही अच्छा है।

यह है जैन नारियों के सतीत्व या शील की महानता और धार्मिक जीवन की उच्चता। इस प्रकार के नारी के सतीत्व रक्षण के उदाहरण अन्यत्र कम ही देखने में मिलते हैं। धारिणी और राजीमती इन दोनों महिलाओं के उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि दोनों ने केवल अपने शील की ही रक्षा नहीं की किन्तु चरित्र से भ्रष्ट होते हुए योद्धा और साधु को भी अपने सतीत्व की शक्ति से सन्मार्ग की ओर लगाया।

जैन शास्त्रों में विधवा विवाह की प्रथा के उदाहरण मेरे देखने में नहीं आए। इस से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आज कल की तरह प्राचीन जैन समाज में विधवाओं की संख्या कम रही हो और इस लिये विधवा विवाह की जटिल समस्या उन के सामने न आई हो। जो थोड़ी बहुत विधवाएं होती होंगी वे धार्मिक जीवन व्यतीत करती होंगी। विधवाओं की संख्या कम होने के कुछ प्रमाण तो स्पष्ट ही हैं। जिस जाति में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित हो या कुजोड़ विवाह होते हों वहां विधवाओं की संख्या अधिक बढ़ने का डर रहता है। जैन समाज सौभाग्य वश इन दोनों कुप्रथाओं से मुक्त रहा है। बाल विवाह तो जैन धर्म में निन्द्य समझा जाता था। और कुजोड़ विवाह का प्रश्न

ही पैदा नहीं होता जब कि विवाह के लिये स्वयंवर की प्रथा सबसे उत्तम मानी जाती है। कन्या और वर दोनों को अधिकार था कि वे अपने २ गुण, कर्म, और स्वभाव के अनुकूल स्वयंवर में अपना जीवनसंगी या जीवनसंगिनी चुनें।

जैन सभ्यता कालमें सामाजिक जीवन इतना ऊँचा और आदर्श था कि जिस की प्रशंसा किये बनती है। लोग विपरीत कारणों के सद्भाव में भी मर्यादा का उलंघन नहीं करते थे जहां गुण होंगे वहां दोष भी हो सकते हैं, भूल पुरुष भी करता है और स्त्री भी। हो जाती हैं कोई सभी सर्वज्ञ तो होते नहीं। ऐसी स्थिति में अपने में होने वाली अनेक भूलों की उपेक्षा करके दूसरे की भूल देखकर उस से घृणा करना यह छोटेपन की निशानी है। जैन धर्म ने इन बातों में बड़ी विशालता दिखाई है। यदि कोई स्त्री भूल से या अज्ञानता से सन्मार्ग से फिसल जाती थी तो समाज उस से घृणा का व्यवहार नहीं करता था। उस को भी अन्य स्त्रियों की भाँति धर्म कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। जैन पुराण में एक कथा आती है कि चंपा नगरी में एक कनकलता नाम की स्त्री थी। उस का एक युवक से अनुचित प्रेम हो गया था। वे पति पत्नी की तरह प्रत्यक्ष रूप से रहने भी लग गए थे तो भी समाज के लोग उन से घृणा नहीं करते थे। दोनों अपने अनुचित सम्बन्ध से लज्जित अवश्य थे किन्तु मुनियों के व्याख्यान सुनने जाते थे। उन्हें दान देते थे और देवपूजनादि सब धार्मिक कृत्य निरंतर किया करते थे। इसी प्रकार आराधना कथा-कोषमें भी एक ऐसा ही दृष्टान्त मिलता है। ज्येष्ठा नाम की एक आर्यिका अपने आचरण से भ्रष्ट हो गई थी उसे प्रायश्चित्त देकर पुनः दीक्षा दे दी गई थी। लोग पूर्ववत् ही उस में श्रद्धा रखते थे। इस से यह स्पष्ट है कि जैन समाज में अज्ञानवश आचरण तक से पतित

स्त्रियों के साथ भी शिष्टाचार का बर्ताव किया जाता था। जैन सभ्यता इतनी उच्चता पर पहुंची हुई थी कि उस के सब कार्य मर्यादित थे।

॥ नारी सम्मान की पराकाष्ठा ॥

श्रमण संस्कृति के विकास युग में जैनसमाज में स्त्रियों के साथ इतने उच्च शिष्टाचार का व्यवहार किया जाता था कि पत्नी तक पर आचरण भ्रष्टता का संदेह होने पर भी पति उन से दुर्व्यवहार नहीं करते थे। प्राचीन जैनसमाज में मर्यादा का उल्लंघन करना अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। मर्यादा को गृहस्थ जीवन के माधुर्य की नींव समझा जाता था। जैन शास्त्रों के प्रखर विद्वान् श्री शीलाङ्काचार्य कृत 'महापुरिसचरिय' नामक ग्रन्थ में प्रियदर्शना की एक कथा आती है जो उपर्युक्त सत्य को प्रमाणित करती है:—

अपर विदेह में अपराजिता नाम की एक नगरी थी। वहां अनेक गुणों से अलंकृत ईशानचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था। उसी नगरी में चन्दन दास नाम का एक सम्पत्तिशाली सेठ भी रहता था जिस के पुत्र का नाम सागरचन्द्र था। एक बार सागरचन्द्र, राजा ईशानचन्द्र के दर्शनार्थ राजकुल में गया। राजा ने आसन ताम्बूलादि से उस का स्वागत किया और कुशलता पूछी। तब सागरचन्द्र ने कहा कि महाराज ऋतुराज बसंत अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रारम्भ हो गया है। आप क्रीडोद्यान में चलने की कृपा करें। राजा ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और सारी नगरी में यह मुनादी करवादी कि महाराजाधिराज आगामी दिवस प्रातः रतिकुलगृह उद्यान में पधारेंगे। अतः नगर के सब स्त्री पुरुष अपने २ वैभव के अनुसार खूब धूमधाम से उद्यान की शोभा बढ़ाएं। प्रातःकाल महाराजाधिराज अपने अनेक रमणीजन

के साथ बड़ी शान से उद्यान में पहुंचे गए। उधर सागरचन्द्र भी अपने घनिष्ठ मित्र अशोकदत्त के साथ बड़ी ठाठ से वहां गया। जब वहां सब लोग खूब रंग रलियां मना रहे थे और आनन्दसागर में मग्न थे तो एक ओर से स्त्रियों की भीड़ से कुछ कोलाहल सुनाई पड़ा जिस में बचाओ २ का शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था। सागरचन्द्र साहस करके तुरन्त उस ओर दौड़ा। वहां उसने बन्दियों द्वारा पकड़ी हुई पूर्णभद्र की अतिसुन्दरी कन्या प्रियदर्शना को देखा। उस ने तुरन्त वीरता पूर्वक एक बन्दी से छुरी छीन ली और प्रियदर्शना को उन से मुक्त कराया। प्रियदर्शना इस सुन्दर नवयुवक की वीरता पर मुग्ध हो गई और उस पर प्रेम भाव प्रकट किया। सागरचन्द्र के हृदय में भी कामदेव के तीर चुभ चुके थे। इतने में प्रियदर्शना का पिता आया और अपनी कन्या को घर ले गया। सागरचन्द्र के पिता तक भी यह समाचार पहुंच चुका था। सागरचंद्र ने अपनी इच्छा पिता के सामने प्रकट की और पिता ने उस का विवाह प्रियदर्शना के साथ कर दिया और साथ २ सागरचन्द्र को उस के दुष्ट मित्र अशोकदत्त से भी सावधान रहने का उपदेश दिया। सागर ने उस उपदेश को उपेक्षा की दृष्टि से सुना। अस्तु, सागरचन्द्र और प्रियदर्शना बड़े आनन्द से अपना गृहस्थ जीवन बिताने लगे।

एक दिन सागरचन्द्र की अनुपस्थिति में अशोकदत्त प्रियदर्शना के पास आया। और कहने लगाः—'क्या कारण है कि तुम्हारा पति धनदत्त की पुत्रवधु के साथ प्रतिदिन छिपकर बातें करता है?' प्रियदर्शना का चित्त निर्मल था उसने कहाः—'तुम उस के घनिष्ठ मित्र हो तुम ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हो कि इस में क्या रहस्य हो सकता है?' अशोकदत्त ने कहा कि तुम मेरा एक अभीष्ट पूर्ण कर दो तो मैं तुम्हें यह रहस्य बता सकता हूं।' शुद्ध हृदय प्रियदर्शना ने कहा—मेरे

प्रति तुम्हारा क्या प्रयोजन हो सकता है ?' इस के उत्तर में मलिन-हृदय अशोकदत्त ने कहा कि इस संसार में जिस मनुष्य ने तुम्हारे दिव्यसौंदर्य को एक बार भी देख लिया है वह तुरन्त अपने लिये तुम्हें पाने का प्रयोजन रखता है । केवल एक तुम्हारा पति ही ऐसा पुरुष है जिस को तुम्हारे प्रति प्रयोजन नहीं है ।'

प्रियदर्शना अशोकदत्त के मलिन भावों को समझ गई और उसे ऐसे नीच विचारों के लिये खूब लताड़ा । अशोकदत्त बड़ा लज्जित हुआ और यह यह कह कर कि यह तो केवल परिहास के लिये कहा गया था निराश होकर भवन से बाहिर आगया । उस की आशा पर पानी फिर चुका था अतः वह बड़ा ही खिन्न और उदास था । एकाएक सागर चन्द्र भी उसे मिल गया और पूछने लगा कि मित्र इस खिन्नता और उदासी का कारण क्या है ? धूर्तता का जाल रचाते हुए अशोकदत्त ने पहले बताने से संकोच दिखाया, आंखें भर लीं और कुछ निश्वास भी छोड़े । यह सब जाल सागरचन्द्र से आग्रह कराने के लिये था । जब सागरने आग्रह किया तो कहने लगा :— 'मित्र आप जानते ही हैं महिला सब अनर्थों का मूल कारण है । वह बिना बादल की बिजली है, ऐसी व्याधि है जिस के लिये कोई औषधि नहीं होती और ऐसी मोह-निद्रा है जिस का कभी अन्त नहीं होता । स्नेह से परिपूर्ण होते हुए भी जिस प्रकार दीप शिखा जलती रहती है । ठीक वही दशा स्त्री की भी है । आज मैं आप को ढूँढने के लिये आप के भवन पर गया था और वहां एकान्त जानकर प्रियदर्शना ने मुझ पर अपना कलुषित प्रेम प्रकट किया । बड़ी कठिनाई से अपने आप को उस के पंजे से बचाकर आया हूं । भला मैं आप जैसे घनिष्ठ मित्र को क्या स्वप्न में भी धोखा दे सकता हूं । मैं सोच रहा था कि क्या मैं आत्मघात करलूं या न करूँ

पर ही सन्मार्ग की शिकायत करोगी। यदि मैं चलता हुई हूँ, अपने मित्र से कहता हूँ तो यह भी ठीक न होगा क्योंकि मैंने उस दुष्ट का मनोरथ पूर्ण नहीं किया। अतः यह और भी जख्म पर नमक छिड़कने के समान होगा। वह यह सोच ही रहा था कि आप मिल गए। सागरचन्द्र के लिये ये वचन वज्र के समान थे। उसने अपने आपको संभाला और अशोकदत्त को सान्त्वना दी और उसे कहा कि हमारी मित्रता में यह घटना कोई विषमता पैदा नहीं कर सकेगी। परन्तु प्रिय-दर्शना के लिये सागरचन्द्र का हृदय टूट चुका था। अब उस हृदय में वह पहले का मान और प्रभाव न रह गए थे। उस को अपनी पत्नी प्रियदर्शना के आचरण पर पूर्ण संदेह हो चुका था। किन्तु यह सब होते हुए भी सागरचन्द्र ने आवश्यक शिष्टाचार और मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। अन्दर से सागर का हृदय अवश्य खिन्न रहता था किन्तु उस खिन्नता को उस ने कभी भी अपनी पत्नी के सामने प्रकट नहीं किया। बाहर से वह पूर्ववत् ही प्रियदर्शना के साथ ऐसे शिष्टाचार से व्यवहार करता रहा कि उसे अपने पति पर संदेह तक नहीं होने पाया। प्रियदर्शना ने भी इस भय से कि दोनों मित्रों में उस के कारण वैमनस्य उत्पन्न न हो अशोकदत्त के दुराचार की बात अपने पति से न कही। इस प्रकार उच्चकोटि की मर्यादा पालन करते हुए दोनों ने अपना सारा जीवन बिना किसी कालुष्य के बिता डाला।

प्रियदर्शना की इस कथा से पाठकों को भलीभांति पता चल गया होगा कि जैनधर्म में शील का कितना उत्कृष्ट स्थान है। पति के लिये पत्नी के चरित्र पतन से बढ़ कर क्रोध का और क्या कारण हो सकता है किन्तु सागरचन्द्र ने यह ज्ञात होते हुए भी अपनी पत्नी पर न तो क्रोध ही किया और न कभी उस का तिरस्कार ही। उसका उस के साथ ऐसे शिष्टाचार का व्यवहार किया कि उसे वास्तविक रहस्य तक का

पता न चलने पाया। कितना उच्च था जैन समाज में गृहस्थ जीवन और कैसे उच्चाचरण के मनुष्य तथा देवियां इस में पैदा होती थीं ? इस सत्य को प्रियदर्शना की जीवन कथा सदा संसार को बताती रहेगी।

वर्तमान जैन समाज को अपनी प्राचीन संस्कृति कभी नहीं भूलनी चाहिये। प्राचीन जैन संस्कृति में जो स्त्री का स्थान था वह आजकल के हमारे जैन समाज में कम ही मिलता है। गुजरात प्रान्त को छोड़ कर बाकी राजपूताना और पंजाब आदि प्रदेशों में स्त्री शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार है। साथ २ पर्दा प्रथा की इतनी भयानकता है कि काफी बड़ी संख्या में गृहस्थों के घरों में स्त्री की स्थिति दासी से अच्छी नहीं कही जा सकती। इस पर्दे के कारण से स्त्रीजाति में शिक्षा के प्रचार में भी बड़ी अड़चन पड़ती है। शिक्षा ही विकास का कारण है। जहां प्राचीन जैन समाज में स्वयंवर विवाह की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी वहां आज ऐसी स्थिति है कि विवाह के समय कन्या की सम्मति तक को भी कोई भद्रपुरुष लेता होगा। बहुत से घरों में तो बाल विवाह, कुजोड़ विवाह, वृद्ध विवाह, और दहेजआदि की कुप्रथाएं इतना भयानक रूप धारण किये हुए हैं कि वे भयानक रोग की भाँति उत्तरोत्तर जैनसमाज के कलेवर को खा रही हैं। संसार बहुत आगे बढ़ चुका है। हम को भी चेतना चाहिये। जो जाति या धर्म समय की प्रगति की उपेक्षा करता है वह उन्नतिकी ओर बढ़ नहीं सकता। अतएव हमें अपने आप को समयानुकूल बनाना होगा। समयानुकूल बनानेके लिये भी हमें कोई विशेष नई चीजों को अपनाना नहीं होगा बल्कि अपनी प्राचीन संस्कृति को ही भलीभाँति समझना होगा। यदि देश काल परिस्थिति के कारण किसी नई प्रथा को अपनाना पड़े भी और उसके कारण प्राचीन सिद्धान्त की उपेक्षा होती हो तो भी कोई दोष नहीं। एक युग में देश, काल और परिस्थिति के कारण जो बातें ठीक

मानी जाती हैं यह ज़रूरी नहीं कि वे दूसरे युग में भी ठीक मानी जायें। अतः यदि हम किसी अर्द्ध प्रथा को भी अपना लें तो वह भी कुछ काल के पश्चात् हमारी ही संस्कृति का अंग बन जायगी। विचारने की बात यही है कि उस से हमारे सामाजिक जीवन को शक्ति मिलती हो। मेरा कहने का अभिप्राय है कि हमें रूढ़ीवादी नहीं बनना चाहिये। फिर हम तो अनेकान्तवाद के अनुयायी हैं रूढ़ीवाद तो हमारे पास फटकना भी न चाहिये। अब वैज्ञानिक युग है जिसमें संकुचित विचारों वाले व्यक्तियों के लिये कोई गौरव का स्थान नहीं। अब हम अपने पूर्वजों के गौरव की कहानियां सुनाकर बड़े नहीं बन सकते किन्तु उन के आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर ही बड़े बन सकते हैं।

जैन समाज में जो कुप्रथाएं प्रचलित हैं उनको मिटाने के लिये और नारी जीवन को सुधारने के लिये हमारे नवयुवकों को आगे आना चाहिये। इस के लिये त्याग और निःस्वार्थ जीवन की आवश्यकता है। नव युवकों को चाहिये कि सर्व प्रथम वे जैन समाज को संगठित कर एक सूत्र में बांधे। इस के लिये एक जैन वीर मण्डल बनाएं जिस की शाखाएं देश में यत्र तत्र स्थापित हों। और उसका एक मात्र काम जैन समाज में फूट के कारणों को दूर करना और समाज के सभी क्षेत्रों में सुधार करना होना चाहिये। स्त्रियों की शिक्षा के लिये स्कूल और विद्यालय खुलवाने चाहिये और जो लोग बालविवाह, कुशीलविवाह, और वृद्धविवाह करने पर तुले हों उन का घोर विरोध होना चाहिये। दुःखी और निराश्रित विधवाओं की और बाल विधवाओं की सहायता का भी प्रबन्ध होना चाहिये। जो विधवाएं गृहस्थ में रह कर या साध्वी बन कर धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहती हैं वे सहर्ष वैसा करें समाज को उन पर बड़ा गौरव है किन्तु जो ऐसी बालविधवाएं हैं जो सांसारिक जीवन के आकर्षणों पर विजय नहीं पा सकतीं उन से ब्रह्मचर्य

का पालन करवाने के लिये यह आवश्यक है कि समाज उन को
धार्मिक वातावरण में रक्खे। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन कोई बच्चों का
खेल नहीं है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य कथन काम होता है किन्तु इन्द्रियोंका
दमन बड़ा कठिन कार्य है। संसार का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा
पड़ा है कि बड़े २ ज्ञानी, ऋषि और मुनियों को भी काम के बाणों के
आगे हार खानी पड़ी। बड़े २ ज्ञानचर्चा करने वाले, ब्रह्मचर्य और
संयम का उपदेश देनेवाले उपदेशक और उसका श्रवण करने वाले
श्रावक क्या सच्चे हृदय से यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय निरोध सरल
काम है? फिर भला हर एक विधवा से यह आशा करनी कि वह अवश्य
ही इन्द्रिय निरोध कर लेगी कितना भ्रमपूर्ण है! हमारी समाज में ऐसे
अनेको घर हैं जहां माता पिता बड़ी उमर में भी कामवासना का
त्याग नहीं करते और उनकी युवावस्था से परिपूर्ण बाल विधवा कन्याएं
वैधव्य की ज्वाला में जला करती हैं। ऐसे माता पिता को चाहिये कि वे
स्वयं संयम का पालन करें और अपनी कन्या को सात्विक और धार्मिक
वातावरण में रखें जिस से उस के विचार विकृत न होने पावें। किन्तु
इसके विपरीत आज कल के अधिकतर माता पिता स्वयं तो विलासपूर्ण
जीवन व्यतीत करते हैं और अपनी अबोध कन्याओंसे असंभवकी संभावना
करते हैं। प्रोत्साहन स्वयं देते हैं और जब अपरिपक्व अनुभव वाली
कन्या सन्मार्ग से पतित होती है तो शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध जाने के
सम्पूर्ण भार को उस पर थापने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। कोई
दूसरा अपराध करे तो शास्त्र विमुख होनेकी दुहाई दी जाती है और स्वयं
अपराध हो तो शास्त्र की बात भी नहीं पूछी जाती। अस्तु, मेरा कहने
अभिप्राय यही है कि विधवाओं के लिये सात्विक और धार्मिक वाता-
वरण पैदा करना और उसी में उनको रखना यह समाज का परम
कर्तव्य है। यदि कोई सन्मार्ग से पतित हो भी जावे तो उस पर [illegible]

विधुरता के भार को भोग कर इनसे दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये किन्तु शील के महत्व को समझाकर उनको सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त कराना चाहिये। मेरा तो मन्तव्य है कि यदि जैन शास्त्रों में बताए धर्म पर और नियमों पर हमारे लोग चलते तो न इतनी विधवाएं ही होतीं और न यह जटिल समस्या ही समाज के सामने उपस्थित होती।

इस में कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल से जैनधर्म में स्त्री का उच्च आदर्श सतीत्व रहा है और ब्रह्मचर्य को एक अलौकिक शक्ति और असाधारण तेज माना गया है। वास्तव में यह बात सत्य भी है किन्तु उस समय कुछ वातावरण और था। अब उससे सर्वथा भिन्न है। उस समय लोग अपनी संस्कृति के महत्व को पूर्णरूप से समझते थे और अपने जीवन में कार्यरूप में उस पर चलते थे। इस के लिये उनके चारों ओर उच्च धार्मिक विचारों का वातावरण भी अनुकूल था। आज वातावरण बदल चुका है। अनेक जातियों और धर्मों के साथ निरन्तर सदियों के सम्पर्क से हमारे संस्कार, विचार और रीति रिवाज परिवर्तित हो चुके हैं। अब हम प्रत्येक बात में जैन शास्त्र के विधानके अनुसार चलने का दावा नहीं कर सकते। शुद्ध श्रमण संस्कृति के पालक हम तभी बन सकते हैं जब कि दूसरे धर्मों के संस्कारों और विचारों को निकाल दें। और रीति रिवाजों को त्याग दें। अब अपने सिद्धान्तों को समझें और उन्हें अपने जीवन में उतारें। फिर सामाजिक जटिल समस्याएं अपने आप हल हो जाएँगी। किन्तु सदियों का चढ़ा रंग एक ही दिन में नहीं उतर जाता। इस के लिये बड़े कठिन परिश्रम और त्यागमय जीवन की आवश्यकता है। इस महान् कार्य की पूर्तिके लिये जैन नवयुवक और सुधारक विद्वान् कार्यक्षेत्र में उतरें तो श्रमण-संस्कृति के पुनः अभ्युदय में कोई संदेह नहीं रह सकता।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अब कुछ सुधारक श्रद्धेय जैन सन्तों के सदुपदेश से जैन समाज में कन्याओं के लिये स्कूल और विद्यालय खुलने लगे हैं। स्त्री जाति की उन्नति के लिये या दूसरे शब्दों में जैन समाज के उत्थान केलिये यह एक सुन्दर कदम है और सौभाग्य से हमारी भावी उन्नति का प्रतीक है। किन्तु हमारी समाज जो कुछ किया जा चुका है उसे ही पर्याप्त समझ कर सन्तोष न कर ले। यह तो केवल भूमिका मात्र है। काम तो अभी सारा ही अवशेष पड़ा है। स्त्री शिक्षा के लिये अभीतक जो कन्या विद्यालय खुले हैं। वे बड़े बड़े कुछ नगरों तथा कसबों तक ही सीमित हैं। उनकी संख्या भी बहुत कम है। स्त्री शिक्षा के लिये विद्यालय सर्वत्र व्यापक रूप से खुलने चाहिये और लक्ष्य यह हो कि जैनसमाज में कोई भी स्त्री अशिक्षित न रहने पाए। जब स्त्री शिक्षा व्यापक रूप में फैल जाएगी तो स्त्रियां स्वयं अपने कर्तव्य गौरव और विस्मृत श्रमण संस्कृति को समझने लगेंगी और अपने बच्चों में ऐसे पुनीत संस्कार भरेंगी कि भावी जैन सन्तान पूर्ववत् एक उच्च आदर्श जीवन संसार के सामने रख सकेगी। स्त्रियां मातृत्व की महिमा को समझेंगी और राष्ट्र के सुन्दर और सुसंगठित निर्माण के लिये वीर, विद्वान् और चरित्रवान् पुत्रों को उत्पन्न करेंगी।

वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक राष्ट्र या धर्म के उत्थान या पतन की नींव माता होती है। माताओं के जो भाव और संस्कार होते हैं वे ही बच्चों में प्रतिबिम्बित होकर समाज या राष्ट्र का निर्माण करते हैं। अतएव यदि माताएं सुसंस्कृत हों तो राष्ट्र का उत्थान निश्चित है। और यदि वे पिछड़ी हुई हों तो राष्ट्र का पतन अवश्यंभावी है। यही कारण है कि अनादिकाल से लेकर स्त्री मानवता के इतिहास की प्रधान नायिका रहती आई है। यही कारण है कि स्त्री की उत्तमता के कारण ही अनेक राष्ट्रों का अभ्युदय हो चुका है और इसी के पतन के

कारण मनुष्यको अपने २ बड़े पतन भी देखने पड़े हैं। सीता के कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए और चिरस्मरणीय रामराज्य को आदर्श संसार के सामने रक्खा। और इधर परस्त्रीया की पतित भावना के कारण रावण की इतनी बड़ी सल्तनत का अन्त हुआ। इस प्रकार द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण कौरव प्रजा की दृष्टि से गिरे और अन्त में उन की हार हुई और दुर्गति को प्राप्त हुए।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति का जो अपने आप को जैनधर्मावलम्बी कहने का दावा रखता है कर्त्तव्य है, कि वह अपनी कन्याको शिक्षा दे। स्त्री शिक्षा के प्रचार के लिये पूर्ण प्रयत्न करे। और कन्या का विवाह पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होने पर ही कन्या की रुचि के अनुकूल ही किसी सुयोग्य वर से करे। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, कुयोग विवाह और पर्दा प्रथा ये जैनधर्म की संस्कृति के अंग नहीं हैं। इन का प्रत्येक जैनी को विरोध करना चाहिये और जो इनका अनुमोदन करते हों उन का विरोध होना चाहिये। जैनधर्म के अनुसार विवाहादि कार्यों में जाति पाति का बन्धन कोई महत्व नहीं रखता, अतः इस जटिल बन्धन को भी तोड़ना जैन समाज की उन्नति के लिये श्रेयस्कर होगा। स्त्रियों के पाठ्यक्रम में धार्मिक पुस्तकें अधिक पढ़ानी चाहिये जिस से वे अपनी प्राचीन संस्कृति को भलीभाँति समझ सकें। इस प्रकार स्त्रीको सामाजिक जीवन में पूर्ण विकास की स्वतन्त्रता देने से ही स्त्री जाति का उत्थान होगा और उस के उत्थान से ही पुरुष और राष्ट्र का भी अभ्युदय होगा। स्त्री जाति के उत्थान से पुनः जैन धर्म में चन्दनबाला और राजीमती जैसी सतियों का जन्म होगा जिन का लोग प्रतिदिन स्मरण करते हैं।

ब्राह्मी चन्दन बालिका भगवती, राजीमती द्रौपदी।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा॥
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

॥ अहिंसा परमो धर्मः ॥

अहिंसा एक महान् धर्म है। हिंसा से निवृत्त होने का नाम ही अहिंसा है। आत्मा के आवागमन या पुनर्जन्म पर विश्वास रखने से प्राणीमात्र के प्राणों के प्रति प्रतिष्ठा स्वयं पैदा हो जाती है। आवागमन का सिद्धान्त प्राणीमात्र के प्रति समता रखने का आदेश देता है। वह कहता है कि जिस प्रकार तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो इसी प्रकार तुम्हें पराए का भी करना चाहिये। संसार में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि छोटे से बड़े तक जितने भी जीव हैं सब समान हैं। भिन्न २ कर्मों के कारण से वे भिन्न २ योनियों में पैदा हुए हैं। सुख दुःख सब को मनुष्य की तरह ही होता है अतएव उन सब के दुःख को अपने दुःख के समान समझना चाहिये। जो पुरुष ऐसा करता है वह महापुरुष कहलाता है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी धर्म किसी न किसी रूप में अहिंसा परमोधर्मः की ओर मनुष्य को प्रेरित करते हैं।

भारत के अतिप्राचीन और प्रधान धर्म वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के अवतारों और आचार्यों ने भी अहिंसा धर्म को जीवनकल्याण के लिये महान् धर्म बताया है। तीनों धर्मों के आचार्य और महर्षि अहिंसा पालन का उपदेश देते आए हैं। किन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। प्रत्येक सदीमें नवीन परिस्थिति और वातावरण के कारण भिन्न २ विचार धारा के व्यक्ति पैदा होते रहते हैं। कुछ लोग स्वार्थ वश अपने जीवन को धर्म के अनुकूल न बना कर धर्म को अपने

मनु० अ० ५, श्लोक ३९.

अर्थात्:— स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं को बनाया है। अतएव यज्ञ में पशु का वध "अवध" अर्थात् वधजन्य दोष रहित है। इसी प्रकार आगे लिखते हैं:—

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः॥

मनु० ५/ ४०

ओषधि, पशु, वृक्ष आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण किया करते हैं।

याज्ञिकी हिंसा के विधान की तरह श्राद्ध में होने वाली हिंसा का भी मनु जी ने विधान किया है। श्राद्ध में खिलाई जाने वाली भिन्न २ वस्तु से कितने २ दिन तक पितर प्रसन्न रहते हैं इस का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं:—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावैणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥

अ० ३. श्लोक २६८, २६९, २७०

अर्थात्:—पहिनी आदि मछलियों के मांस से दो महीने पर्यन्त, हरिण के मांस से तीन मास तक, भेड़ के मांस से चार महीने और जाने

शाकुन पक्षी के मांस से पांच महीने पर्यन्त पितरोंकी तृप्ति होती है २६८॥

बकरी के मांस से छः मास, पृषत्मृग के मांस से सात महीने एणजातीय हरिण के मांस से आठ महीने तक और रुरुजातीय मृग के मांस से नौ महीने तक पितरों की तृप्ति हुआ करती है ॥ २६९ ॥

बनैले सूअर तथा जंगली भैंसे के मांस से दस महीने और खरहे तथा कछुए के मांस से ग्यारह मास पर्यन्त पितर तृप्त रहते हैं ॥ २७०॥

यज्ञ और श्राद्धादि कर्मों में हिंसा विधान का फल यह हुआ कि वैदिक धर्मावलम्बी किसी काल में व्यापक रूप से आमिषाहार करने लग गए थे। शूद्रादि छोटी जातियों के लोग तो बिना किसी बाधा के मांसाहार करते ही थे किन्तु ब्राह्मणोंनेभी यज्ञकी आड़ लेकर या मांसाहार पर धर्म की मोहर लगाकर मांसाहार करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पशुओं का व्यापक रूप में संहार होने लगा और अन्त में हिंसा का जो भयानक और मानवजाति को पतन की ओर ले जाने वाला परिणाम होता है वही हुआ। हिंसा से सामाजिक जीवन में निर्दयता, क्रूरता, दुष्टता और अत्याचार बढ़ने लगे और मानवता के आदर्श गुण समता, सहनशीलता, अनुकम्पा और सहृदयता मानव समाजसे लुप्त होने लगे। सारी सामाजिक व्यवस्था बिगड़ गई और लोग बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने लगे। पतनोन्मुख मानवसमाज को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करानेके लिये अब हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन की आवश्यकता थी। सौभाग्य से वैदिक धर्म से ही कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिन्होंने वैदिकी हिंसा का विरोध किया। वैष्णव, स्वामीनारायण और आर्यसमाज जैसी अनेक वैदिक धर्म की शाखाओं के धर्मगुरुओं ने वैदिक हिंसा का खुले मैदानमें विरोध किया और हिन्दूसमाज को बहुत बड़ी संख्या को आमिषाहारसे निवृत्ति कराने में वे सफल भी हुए। हिंसा का विरोध करने के लिये

उन्होंने वैदिक धर्मग्रन्थों का त्याग नहीं किया किन्तु ग्रन्थों के अनेक हिंसामूलक पाठों का अहिंसामूलक अर्थ किया। उदाहरण के लिये गोमेध का का निरूपण करते हुए आर्यसमाज के सुयोग्य विद्वान् पं० गंगा प्रसाद जी लिखते हैं*:—

"बहुत से विद्वानों का कथन है कि वेद में पशुवध की आज्ञा है, यहां तक कि यज्ञ के लिये गोवध तक का विधान है। यह प्रश्न इतना विवादास्पद है कि उस की यहां विवेचना नहीं की जा सकती। तथापि हम वैदिक यज्ञ गोमेध के सम्बन्ध में जिस के अर्थ गोवध के लगाए जाते हैं कुछ कहना उचित समझते हैं। हम इस बात को निरुक्तकारों में भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्यार्थ प्रकाश† में बतलाते हैं कि संस्कृत भाषा के 'गो' शब्द के अर्थ केवल गाय के ही नहीं प्रत्युत पृथ्वी और इन्द्रियों के भी हैं। गोमेध का आधिभौतिक अर्थ खेती के लिये धरती जोतना और आध्यात्मिक अर्थ इन्द्रिय-दमन है। कुछ लोग इस व्याख्या का उपहास करते हुए उसे अर्थ की खींचातानी बताते हैं। वे यहां तक कह डालते हैं कि वेद के इस प्रकार अर्थ लगाना अन्याय है। हमें देखना चाहिये कि डाक्टर हाग जैसे प्रामाणिक और निष्पक्ष पुरुष पाश्चात्यों के विषय में क्या सम्मति देते हैं। "गोमेध उस का अर्थ पृथ्वी की सार्वभौमिक आत्मा है जो सब प्रकार के जीवन और शक्तियों का कारण है। शब्द का शब्दार्थ 'गौ की आत्मा' है। यहां रूपकालङ्कार है क्योंकि पृथ्वी की गाय से तुलना की गई है। 'गाय को काटने और बांटने' से पृथ्वी में हल चलाने का अर्थ लिया जाता है।" [illegible] और [illegible] ने जो उपदेश दिया है उसका मतलब यह

---

*धर्म का आदि स्रोत पृ० १५४।

†देखो सत्यार्थप्रकाश ११ समु० पृ० ३०५।

में जाते हैं। वैदिकधर्मावलम्बियों में आमिषाहार करने वालों की संख्या भी बड़ी है और आमिषाहार का घोर विरोध करने वाले शाकाहारियों की भी कम नहीं। कुछ भी हो यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिकधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्मः' इस सिद्धान्त का सम्मान हुआ है और वैदिक धर्मावलम्बी बहुत बड़ी संख्या में इसका पालन करते रहे हैं।

॥ जैनधर्म में अहिंसातत्त्व की साधना ॥

वैदिक धर्म में जब हिंसा प्रवृत्ति व्यापक रूप में फैल गई थी तो हिंसा का विरोध करने वाले आमिषाहारियों के लिये क्षोभ का कारण बने किन्तु इस के विपरीत जैन धर्म के परम्परागत शास्त्रीय ज्ञान में जब कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मांसाहार का विधान बताया तो अहिंसा धर्म के पुजारी जैनसमाज में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। याकोबी आदि जर्मन विद्वानों ने आचारांग के कुछ सूत्रों का मांसपरक अर्थ किया है जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जैनी लोग भी प्राचीन समय में मांसाहार कर सकते थे। इस से जैन समाज में बड़ा क्षोभ हुआ और इस का विरोध वैदिक धर्म में आर्यसमाज के समान जैनधर्म के स्थानक वासी सम्प्रदाय ने किया। स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यों और विद्वानों ने सूत्रों में आए मांसपरक शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक किया और हिंसात्मक अर्थ का खण्डन किया। जैनधर्म की दिगम्बर सम्प्रदाय के पूज्यपादादि आचार्यों ने तो सूत्रों का मांसमत्स्यपरक ही अर्थ मानकर उन सूत्रों को मानने वालों की निन्दा की और उपदेश दिया कि ऐसे सूत्रों को नहीं मानना चाहिये। सूत्रों के न मानने के लिये यह केवल बहाना मात्र है। वास्तव में दिगम्बर लोग सूत्रों को इस कारण नहीं मानते कि उन में वस्त्र तथा पात्र का विधान है जिस से श्वेताम्बर मतकी

पुष्टि होती है। अस्तु, मेरे अपने विचार से जैनधर्म या श्रमण संस्कृति जिसकी नींव ही "अहिंसा परमो धर्मः" पर रक्खी गई है उस में मांस-मत्स्यादि का विधान अपवाद रूप में भी कर दिया हो यह संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रारम्भसे ही सूत्रोंका वनस्पतिपरक अर्थ होना चाहिये।

जैन दर्शन के धुरंधर विद्वान् श्री पं० सुखलाल जी संघवी तो सूत्रों के मांसमत्स्यादिपरक अर्थोंको आपवादिक मानते हैं। उनके विस्तृत विचार भी पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिये यहां दिये जाते हैं—

"कोई भी बुद्धिमान् यह तो सोच ही नहीं सकता कि सूत्रों की रचना के समय रचनाकार को वनस्पति और मांस आदि दोनों अर्थ अभिप्रेत होने चाहिए। निश्चित अर्थ के बोधक सूत्र परस्पर विरोधी ऐसे दो अर्थों का बोध करावें और जिज्ञासुओं को संशय या भ्रम में डालें यह संभव ही नहीं है। तब यही मानना पड़ता है कि रचना के समय उन सूत्रों का कोई एक ही अर्थ सूत्रकार को अभिप्रेत था। कौनसा अर्थ अभिप्रेत था इतना विचारणीय बाकी रहता है। अगर हम मान लें कि रचना के समय सूत्रोंका वनस्पतिपरक अर्थ था तो हमें यह अवश्य मानना पड़ता है कि मांसमत्स्यादि रूप अर्थ पीछे से किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में निर्ग्रन्थ संघ के विषय में यह भी सोचना पड़ेगा कि क्या कोई ऐसी अवस्था आई थी जबकि आपत्तिवश निर्ग्रन्थ-संघ-मांस-मत्स्यादि का भी ग्रहण करने लगा हो और उस का समर्थन उन्हीं सूत्रों से करता हो। इतिहास कहता है कि निर्ग्रन्थ-संघ में कोई भी ऐसा छोटा बड़ा दल नहीं हुआ जिस ने आपत्तिकाल में किये गए मांसमत्स्यादि के ग्रहण का समर्थन वनस्पति बोधक सूत्रों का मांस-मत्स्यादि अर्थ करके किया हो। [illegible] निर्ग्रन्थ-संघ के लम्बे इतिहास में आपत्ति और

[illegible]

अस्तु, कुछ भी हो यह बात तो स्पष्ट है कि वैदिकधर्म के समान जैनधर्म में हिंसात्मक शास्त्रीय पाठों के आधार पर कोई सम्प्रदाय या नए दल पैदा नहीं हुए। हां जैनधर्म क्योंकि अनादिकाल से अहिंसात्मक है या दूसरे शब्दों में अहिंसा ही इस के प्राण हैं इस कारण जब भी कभी किसी ने जैनधर्म पर हिंसा का अल्पतम भी दोष लगाया तो सारी जैनसमाज ने एक आवाज़ से उस का विरोध किया। जो धर्म अनादि काल से अन्य धर्मों में हिंसा प्रवृत्ति का घोर विरोध करता आया है और मानव समाज को हिंसामार्ग से हटाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा है वह भला अपने धर्म के लिये हिंसा की कल्पना भी कैसे कर सकता है। महात्माबुद्ध ने तो वेद विहित याज्ञिकी हिंसा का विरोध बाद में किया किन्तु जैनधर्म पहले से ही उसका विरोध करता आ रहा था। गौतम-बुद्ध के शिष्य तो उनके जीवनकाल में ही मांसाहार में प्रवृत्त होगए थे किन्तु महावीर के अनुयायी कठिन से कठिन समय में भी अहिंसापथ से विमुख नहीं हुए। यही कारण है कि बुद्ध की अहिंसा की अपेक्षा महावीर की अहिंसा का प्रभाव भारतीय समाज पर अधिक पड़ा।

भगवान् महावीर ने अहिंसा धर्म का प्रतिपादन और प्रचार बड़े ही अलौकिक ढंग से किया। उन्हों ने मानव जाति को समता का उपदेश देते हुए कहा कि जीवों में दिखाई देने वाला शारीरिक या मानसिक वैषम्य सब कर्म मूलक है वास्तविक नहीं। इस लिये क्षुद्र से क्षुद्र योनि में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानव योनि में पैदा हो सकता है और मानव का जीव भी क्षुद्र कर्मों के परिणाम स्वरूप क्षुद्रयोनि में पैदा हो सकता है। अतएव अहिंसा मार्ग का अनुसरण करते हुए सब के साथ समता का व्यवहार करो। इस के अतिरिक्त भगवान् ने अहिंसा का अविच्छिन्न महत्त्व एक ही घोषित करते हुए भी साधु के लिये पृथक् और श्रावक के लिए पृथक् अहिंसाचर्या का उपदेश किया। साधु के लिये

तो उन्हों ने अहिंसाधर्म का पालन करने के लिये सब प्रकार की कठिन से कठिन आपत्तियों को सहन करने की भी आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि साधु के सामने सब से बड़ा जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, और अहिंसा धर्म का मनसा, वाचा और कर्मणा पालन किये बिना वह प्राप्त होने वाली नहीं है। उन्हों ने यह भी बताया कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग ये चार महाव्रत भी अहिंसा धर्म की पूर्णता केलिये ही परमावश्यक हैं।

गृहस्थों के लिये भगवान् ने कहा है कि गृहस्थों को यद्यपि अहिंसाधर्म का पालन करना पूर्णरूप से कठिन है किन्तु तो भी उन्हें जहां तक बन सके अपने जीवन के सभी कार्यों में अहिंसा का पालन करना चाहिये। गृहस्थ जीवन की सफलता के लिये सदाचार और सद्विचार परमावश्यक हैं जिन का आधार भी अहिंसा धर्म है। परन्तु गृहस्थ को साधुमार्ग की अतिकठिन सोपान पर उतरने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने लिये प्रतिपादित धर्म का ही आचरण करता रहे तो उस के कल्याण के लिये पर्याप्त है। वैदिक धर्म में मनुष्य के भाग्य का निर्णय ईश्वर के हाथ में है किन्तु जैनधर्म में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का कर्ता धर्ता है है। भगवान् अपने उपदेशों में कहते थे कि यदि सुख चाहते हो तो शत्रुता बढ़ाने वाली हिंसा की भावना का त्याग करो और जीवमात्र के प्रति मैत्री की भावना रखो और फिर देखना तुम उत्तरोत्तर सुख की ओर ही बढ़ोगे। यह भगवान् के उन दिव्य और आदर्श उपदेशों का ही प्रताप है कि प्राचीन परम्परा से चले आते श्रमण संस्कृति के प्राणभूत अहिंसामार्ग पर आज भी जैनसमाज सुचारू रूप से चल रही है।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय जिस प्रकार अहिंसा

धर्म के महत्व को समझा जाता था और उस का पालन किया जाता था ठीक उसी प्रकार की मान्यता वर्तमान समय में भी जैन समाज में पाई जाती है। प्रायः सब धर्मों के अनुयायी बड़ी संख्या में आमिषाहार में प्रवृत्त हो चुके हैं किन्तु सौभाग्यवश जैनधर्मावलम्बी अब भी पूर्ववत् शाकाहारी हैं और भगवान् के संदेश को नहीं भूले हैं। आज भी जैन समाज के व्यवहारिक, सामाजिक और अध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों में अहिंसा के महत्व की उपेक्षा नहीं की जाती। यत्र तत्र शिथिलता का होना तो अवश्यंभावी है किन्तु व्यापकरूप से जैनमात्र अहिंसाधर्म का पालन करता है।

श्रमण संस्कृति की आचार नीति में साधु के लिये पांच महाव्रतों का विधान है। वे व्रत इस प्रकार हैं:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्या परिग्रहाः।

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पाञ्च महाव्रत हैं। इन पाञ्च महाव्रतों में भी पाठक देखेंगे कि सर्वप्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत को दिया गया है। वास्तव में देखा जाए तो जैनधर्म की नींव ही अहिंसा धर्म पर टिकी हुई है। यही कारण है कि जैनमुनियों या श्रावकों के जीवन में अनेक चिन्ह, उपकरण या क्रियाएं अहिंसा के पालन का बोध कराते हैं। मुखवस्त्रिका, रजोहरण और मयूर पिच्छादि सब उपकरण अहिंसा पालन करने के उपकरण हैं। प्रतिलेखन क्रिया भी इसी सिद्धान्त की प्रतीक है। संक्षेप में जैनधर्म की प्रत्येक क्रिया अहिंसा के सिद्धान्त से ओतप्रोत है। ऐसा लगता है कि अहिंसा ही जैनधर्म है और जैनधर्म ही अहिंसा सिद्धान्त का वास्तरूप है। अहिंसा वास्तव में जैन धर्म की आत्मा है। यदि उपर्युक्त पाञ्च महाव्रतों में से अहिंसा महाव्रत को पृथक् निकाल दिया जावे और जैनधर्म के केवल

बाकी के चार महाव्रत ही मान लिये जाएं तो जैनधर्म, जैनधर्म नहीं रह जाता। अतएव अहिंसा महाव्रत को यदि शेष चार महाव्रतों का राजा मान लिया जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भगवान् महावीर के उपदेश से भी यही पता चलता है कि शेष चारों महाव्रतों का पालन भी अहिंसा महाव्रत की पूर्णता की ओर ले जाने वाला है। इस प्रकार जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है और इसी अहिंसा के प्रचार और पालन के कारण जैनधर्म विश्व के धर्मों में एक ऊँचा स्थान प्राप्त करता है।

अहिंसा शब्द की परिभाषा सब धर्मों के आचार्यों ने अपने २ दृष्टिकोण से भिन्न २ प्रकार से की है। जैनाचार्यों की परिभाषा के अनुसार हिंसा से बचने का नाम अहिंसा है। वे कहते हैं कि कषाय या प्रमाद के वशीभूत होकर मनसे, वाणी से या कर्म से दूसरे प्राणी को दुःख पहुंचाना या प्राणों से वियुक्त करना हिंसा होती है। जो प्राणी ऐसा नहीं करता वह अहिंसाधर्मका पालन करता है। हिंसा दो प्रकारकी होती है। पहली भावहिंसा और दूसरी द्रव्यहिंसा। आत्मा में राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया आदि विकृत भावों का उत्पन्न होना भाव हिंसा है। इन कषायों से आत्मिक ज्ञान को महान् हानि पहुँचती है। इन्हीं कषायों के वशीभूत होकर जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी का वध कर देता है तो वह द्रव्य हिंसा बन जाती है। जैन सिद्धान्त के अनुसार यह दोनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। वास्तव में देखा जाय तो हिंसा ही समस्त दोषों या पापों की जननी है। हिंसा से बढ़कर संसार में कोई पाप नहीं। असत्य भाषण, चौर्यकर्म और दुराचरण आदि सब हिंसा की ही भिन्न २ शाखाएं हैं। अतएव हिंसा के त्याग से ही मानव जीवन सुखी बन सकता है। भगवान् महावीर स्वामी ने विश्व को अहिंसा का सन्देश देते हुए कहा था:—

"जीवन का प्रधान लक्ष्य शान्ति है और शान्ति का एकमात्र उपाय अहिंसा है। अतः यदि तुम जीवन के लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हो तो उसके एकमात्र साधन अहिंसा धर्म को कभी मत भूलो।"

जब हम सब शान्तिपूर्ण जीवन बिताना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य होजाता है कि हम दूसरों को भी शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने दें। दूसरों के जीवन पर आक्रमण करके अपने लिये शान्ति की इच्छा करना वृथा है क्योंकि हिंसा की प्रतिक्रिया अवश्य होती है और उसके होने से जीवन में अशान्ति का आना स्वाभाविक है। अतः शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये अहिंसा मार्ग ही श्रेष्ठतम है। इस पर चलने से जीवन में शान्ति का ही साम्राज्य मिलता है।

जैन धर्म की अहिंसा में एक और बड़ी विशेषता हमें मिलती है। किसी का मन्तव्य है कि पशु को न मारना अहिंसा है। कोई कहता है मनुष्य को न मारना अहिंसा है किन्तु जैन धर्म तो प्राणीमात्र को मन, वचन और कर्म से न मारने को अहिंसा मानता है। इस प्रकार जैन धर्म की अहिंसा प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने का उपदेश देती है।

जैन धर्म में प्राणी पांच प्रकार के माने जाते हैं। एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रियों वाले, तीन इन्द्रियों वाले, चार इन्द्रियों वाले और पांच इन्द्रियों वाले। एक इन्द्रिय वाले जैसे जल। जल के केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। दो इन्द्रियों वाले शंख, सीप और लट आदि। इनके केवल काया और मुख दो इन्द्रियाँ होती हैं। तीन इन्द्रियों वाले जीव, कीड़ी, खटमल आदि। इनके काया, मुख और नासिका तीन इन्द्रियाँ होती हैं। चार इन्द्रियों वाले मक्खी, मच्छर और बिच्छू आदि।

पाञ्च इन्द्रियों वाले मनुष्य आदि जीव। इनमें से किसी जीव को भी मारना या मारने की इच्छा करना हिंसा में आजाता है किन्तु सबके मारने में एक सी हिंसा नहीं होती। सबसे अधिक हिंसा पञ्चेन्द्रिय जीव को मारने में, उससे कम चार इन्द्रिय वाले को इस प्रकार उत्तरोत्तर हिंसा की मात्रा कम होती जाती है। पञ्चेन्द्रिय जीव को मारने में जो हिंसा होती है उसकी तुलना फल तोड़ने या खाने की हिंसा से नहीं कर सकते। फलादि वनस्पति को तोड़ने में कम से कम हिंसा होती है जो सामाजिक या गृहस्थ जीवन में निन्द्य नहीं कही जा सकता।

आजकल बहुत से लोग तो अहिंसा धर्म के अतिवाद पर उतर आए हैं और फलादि वनस्पति के आहार को भी आमिषाहार के समान ही हिंसापूर्ण समझकर उसका सेवन करने में पाप मानते हैं। उनको पता होना चाहिये कि वनस्पति और पशु पक्षी आदि जीवों के जीवन के प्रकार में आकाश पाताल का अन्तर है। वृक्षों के फलों को यदि हम न भी तोड़ें तो वे पकने पर स्वयं उनको गिरा देते हैं। और फिर अपनी २ ऋतु में पौधे पुनः पूर्ववत् फलों से लद जाते हैं। कुछ पेड़ जैसे शहतूत और गुलाब आदि तो ऐसे हैं जो काटने छांटने से ही अधिक फलते फूलते हैं। यदि उनको समय समय पर काटा छांटा न जाए तो शीघ्र ही सूख कर नष्ट हो जाते हैं। वनस्पति संसार के लिये जो प्राकृतिक नियम हैं वे जंगम संसार पर लागू नहीं किए जा सकते। उदाहरण के लिये यदि बकरे के सिर, टांग, या कान आदि अंग काट लिये जाएं तो वे किसी भी काल में पुनः नहीं उग सकते। इससे यह स्पष्ट है कि स्थावर और जंगम दोनों तरह के संसारों के लिये प्राकृतिक नियम भिन्न २ प्रकार के हैं। अतः दोनों के जीवन को समान समझना या दोनों की हिंसा को समान समझना निरी अज्ञानता होगी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि हमें वनस्पति-संसार के प्रति दयाभाव नहीं रखना चाहिये किन्तु अहिंसा के अतिवाद पर उतरना और मिथ्यादृष्टि रखना

वह सर्वथा हानिकारक सिद्ध होगा। ऐसा करने से अहिंसा धर्म का पालन व्यावहारिक जीवन में असभव हो जाएगा। इससे अहिंसा के प्रचार के स्थान पर हिंसा की वृद्धि होगी और लोगों की दृष्टि में अहिंसा धर्म का महत्त्व लुप्त हो जाएगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अहिंसा धर्म का पालन मानव जीवन को उच्च बनाने के लिये एक महान् आदर्श है और हमें भरसक इसके पालन में प्रयत्नशील रहना चाहिये किन्तु सभी प्राणियों के लिये सांसारिक जीवन का निर्माण ही ऐसा है जिसमें कदम कदम पर हिंसा का अस्तित्व भरा पड़ा है। जीवन के प्रायः सभी कार्य किसी न किसी प्रकार की हिंसा से लिप्त हैं और वह हिंसा अनिवार्य है। खाना, पीना, चलना, खेती करना, व्यापार करना आदि सभी जीवन के कार्य हिंसा से भरे पड़े हैं। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त संसार का सारा जीवन हिंसा से परिपूर्ण है। तो क्या छोटी से छोटी हिंसा से बचने के लिये मनुष्य सब कामों को छोड़कर निष्कर्मण्य होकर बैठ जाए? निष्कर्मण्यता जीवन की मृत्यु है और संसार का अन्त है। अहिंसा के अतिवाद पर उतरने वाले सज्जन संसार को निष्कर्मण्यता की ओर ही ले जाएंगे। उनको चाहिये कि वे अहिंसा के वास्तविक महत्त्व को समझें। अहिंसा की अति पर उतरने से तो अहिंसा धर्म व्यवहार्य नहीं रह जाएगा। अहिंसा में जितना आकर्षण है वह लुप्त हो जाय गा। और लोग इस के पालन को असम्भव समझ कर इसका त्याग कर देंगे जिसका परिणाम यह होगा कि संसार में हिंसा के प्रचार को प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव जो जैन धर्मावलम्बी अहिंसा की ऐसी अति पर उतरेंगे वे जैन धर्म को लाभ के स्थान पर हानि ही पहुंचाएँगे। उनको पता होना चाहिये कि जैन धर्म में जीवों के चैतन्य की तरतमता के अनुसार ही हिंसा अहिंसा का विवेचन किया है। फलाहार या शाका-हार और मांसाहार दोनों की विभाजक रेखा को बड़े विस्तार पूर्वक

स्पष्ट करके लिखा गया है। अतः कट्टरपन्थी सज्जनों को उसे ध्यान पूर्वक विवेक से समझना और जीवन में उतारना चाहिये।

हिंसा यदि जीवन की एक वास्तविकता है, तो अहिंसा, जीवन का एक महान् धर्म है। हिंसा से जीवन का निर्वाह होता है और अहिंसा जीवन को परिपूर्णता की ओर लेजाती है। अतः हमारा यह कर्तव्य होजाता है कि हम जीवन की परिपूर्णता की ओर बढ़ें किन्तु परिपूर्णता की ओर बढ़ने के लिये जीवन निर्वाह की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवन के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में जीवन की शान्तिमय प्रगति के लिये अनेक हिंसामय उपायों को काम में लाना पड़ता है जिनके बिना सांसारिक व्यवहार चल नहीं सकता। यदि डाकू, चोर, लुटेरे और घातकों को भी दण्ड देने में हिंसा मान कर उसका पालन करने लगें तब तो संसार में अराजकता छा जाए और भयानक से भयानक उत्पात होने लग जाएँ फिर भला संसार में शान्ति की स्थापना कैसे हो सकती है? अतएव संसार की व्यवस्था को ठीक बनाए रखने के लिये और शान्तिपूर्ण जीवन की स्थापना के लिये जो हिंसा की जाती है वह तो पुण्य का रूप धारण कर लेती है या दूसरे शब्दों में वह किसी हद तक अहिंसा धर्म का पोषण करती है। अतः धूर्तों और आततायियों को दण्ड देने में कोई दोष नहीं। इससे अहिंसा धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं पड़ती। यही कारण है कि जैन राजनीति के अनुसार जो पांच यज्ञ बतलाए हैं उनमें सबसे पहला यज्ञ 'दुष्टस्य दण्डः' अर्थात् दुष्ट को दण्ड देना है। इसी प्रकार यदि कोई शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करे, हमें परतंत्र बनाना चाहे या लूट मार करे तो उसका मुकाबला करके उसे पीछे हटाने या मारने में भी कोई हिंसा नहीं मानने चाहिये। जैन राजनीति में 'रिपु राष्ट्र रक्षा' अर्थात् शत्रु से राष्ट्र की

की और अपने शरीर की रक्षा करे। ईश्वर ने उसे नाखून दिये हैं, दांत दिये हैं और ताक़त दी है। वह इनका उपयोग करे और करते २ मर जाय। मौत के भय से मुक्त हर एक पुरुष या स्त्री स्वयं मर के अपनी और अपनों की रक्षा करे। सच तो यह है कि मरना हमें पसन्द नहीं होता। इस लिये आखिर हम घुटने टेक देते हैं। कोई मरने के बदले सलाम करना पसन्द करता है, कोई धन देकर जान छुड़ाता है, कोई मुँह में तिनका लेता है और कोई चींटी की तरह रेंगना पसन्द करता है। इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर जूझना छोड़ पुरुष की पशुता के वश होजाती है।

ये बातें मैंने तिरस्कारवश नहीं लिखीं; केवल वस्तु स्थिति का ही ज़िक किया है। सलामी से लेकर सतीत्वभंग तक की सभी क्रियाएँ एक ही चीज़ की सूचक हैं। जीवन का लोभ मनुष्य से क्या क्या नहीं कराता! अतएव जो जीवन का लोभ छोड़कर जीता है वही जीवित रहता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस मन्त्र के अर्थ को हर एक पाठक समझ ले और कण्ठाग्र कर ले।"

दर्शक पुरुष क्या करें ?

'यह तो स्त्री का धर्म हुआ लेकिन दर्शक पुरुष क्या करें ? उस पूछो इस का जवाब मैं ऊपर दे चुका हूं। वह दर्शक न रह कर रक्षक बनेगा। वह खड़ा २ देखेगा नहीं। वह पुलिस को नहीं ढूंढने जायेगा वह रेल की ज़ंजीर खींचकर अपने कर्त्तव्य को इतिश्री नहीं मानेगा। अगर वह अहिंसा को जानता होगा तो उस का उपयोग करते २ मर मिटेगा और संकट में फंसी बहन को बचा लेगा। अहिंसा के नहीं हिंसा द्वारा बहन की रक्षा करेगा।'

महात्मा जी के इस उत्तर से यह स्पष्ट है कि दुष्ट की दण्ड देना

समय हिंसा-अहिंसा का विचार बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। उसे तो निर्भय होकर अपनी-पड़ोसी की रक्षा के लिये हिंसा-अहिंसा का विचार छोड़ कर जिस प्रकार भी हो सके दुष्ट का सामना करना चाहिये, और मर मिटने तक का संकोच न करना चाहिये। दुर्बल की और सबल की रक्षा के लिये अपनी जान की बाजी लगा देना चाहिये। जो व्यक्ति अहिंसा-धर्म को समझता है और उसका पालन करता है वह दुष्ट के सामने कभी भी कायरता नहीं दिखाता। वह वीरों की तरह या तो दुष्ट को खतम कर डालता है या स्वयं लड़कर मिट जाता है। इस लिये अहिंसा धर्म वीरों का धर्म है। कायर और डरपोक इस धर्म का पालन नहीं कर सकते।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी को यदि बीसवीं सदी के अहिंसा के अवतार मान लिया जाये तो इस में अतिशयोक्ति न होगी। बहुत से विद्वानो ने महात्मा गांधी की तुलना भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध से की है और बहुत से इन को उन से भी बढ़ा चढ़ा कर मानते हैं। निस्सन्देह कुछ लोगों को इस से एतराज़ भी है किन्तु कुछ भी हो मैं अपने दृष्टिकोण से यह दावे से कह सकता हूं कि पूर्वावतारों या पूर्णाचार्यों की भाँति ही महात्मा जी ने अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को समझा था। उन्हों ने अपने जीवन में सुचारु रूप से अहिंसाधर्म का पालन किया और विश्व में उस का प्रचार किया। मैं तो कहूंगा कि महात्मा गांधी की अहिंसा में कुछ और भी विशेषता है जिस के कारण संसार में आज उस का इतना महत्व है। बीसवीं सदी जैसे विकास वाद के युग में राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसाधर्म को जो ऊंचा स्थान मिला है उस का श्रेय राष्ट्र पिता महात्मा गांधी को ही जाता है।

महात्मा जी ने अपना सारा जीवन अहिंसा-धर्म की उपासना में

लगथा। उन की उपासना भी संसार के साधारण महात्माओं की भाँति निष्क्रिय नहीं थी। वह सक्रिय थी। उन्हों ने केवल अहिंसाधर्म के महत्व को समझने में ही अपनी शक्ति नष्ट नहीं की किन्तु जीवन के व्यवहारिक सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक आदि सब क्षेत्रों में अहिंसा धर्म को कार्य रूप में परिणित करके देखा और उन्हें सर्वत्र इसका चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ। जो भी आन्दोलन वे चलाते थे उस का मूलाधार अहिंसा होता था और वे उस में सफल होते थे। भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन की नींव भी महात्मा जी ने अहिंसा के सिद्धान्त पर रखी। बरतानियां जैसी बड़ी सल्तनत के साथ टक्कर भी उन्होंने अहिंसा के शस्त्र के साथ ली। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये भारतीयों को अहिंसा के शस्त्र का अभ्यास और उपयोग भी महात्मा जी ने सिखाया। भारत के लोग उन के बताए हुए मार्ग पर चले और उस का परिणाम यह हुआ कि अन्त में भारत की विजय हुई। विदेशियों को भारत भूमि छोड़ कर जाना पड़ा और अनेक सदियों से खोई हुई स्वतन्त्रता को हम ने फिर से पाया। जर्मनी और जापान जैसे बड़े २ शस्त्रधारी जो युद्ध को प्राधान्य देते थे अपनी स्वतन्त्रता से वंचित हो बैठे और भारत अहिंसाधर्म के बल पर स्वतन्त्र हुआ। यह सब राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण हुआ। भारत भूमि का यह सौभाग्य था कि इस में महात्मा जी जैसे महापुरुष का जन्म हुआ। मैं तो इन्हें वास्तव में अहिंसाधर्म का अवतार मानता हूं।

वर्धा में गांधी सेवा संघ की सभा में एक बार महात्मा जी ने भाषण दिया था जिस में अहिंसा धर्म के महत्व पर प्रकाश डाला था। उन भाषण के कुछ अंश मैं यहां पाठकों के ज्ञान के लिये देता हूं।

'अहिंसा' शब्द निषेध।

"जो अहिंसक है उस के हाथ में चाहे कोई भी उद्योग क्यों न रहे उस में वह अधिक से अधिक अहिंसा लाने की कोशिश करेगा ही। यह तो वस्तुस्थिति है कि बगैर हिंसा के कोई उद्योग चल नहीं सकता। एक दृष्टि से जीवन के लिये हिंसा अनिवार्य मालूम होती है। हम हिंसा को घटाना चाहते हैं और हो सके तो उस का लोप करना चाहते हैं। मतलब यह कि हम हिंसा करते हैं परन्तु अहिंसा की ओर कदम बढ़ाना चाहते हैं। हिंसा को त्याग करने की हमारी कल्पना में से अहिंसा निकली है इस लिये हमें शब्द भी निषेधात्मक मिला है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक है।"

॥ अहिंसा को मर्यादित व्याख्या ॥

अर्थात् जो अहिंसा को मानता है वह उद्योग करेगा उस में कम से कम हिंसा करने का प्रयत्न करेगा। लेकिन कुछ उद्योग ही ऐसे हैं जो हिंसा बढ़ाते हैं। जो मनुष्य स्वभाव से ही अहिंसक है वह ऐसे चन्द एक उद्योगों को छोड़ ही देता है। उदाहरणार्थ यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि वह कसाई का धंधा करेगा। मेरा मतलब यह नहीं कि मांसाहारी अहिंसक हो ही नहीं सकता। मांसाहार दूसरी चीज़ है। हिन्दुस्तान में थोड़े से ब्राह्मण और जैनों को छोड़ कर बाकी के सब तो मांसाहारी ही हैं। किन्तु फिर भी वे अहिंसा को 'परमधर्म' मानते हैं। यहां हम मांसाहार की हिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं। जो मनुष्य मांसाहारी हैं वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मांसाहारी मनुष्य अहिंसक नहीं होता। ऐण्ड्रूज़ से बढ़कर

अहिंसक मनुष्य कहां [illegible] लेकिन वह पहले तो [illegible] मांसाहारी था। बाद में उस ने मांसाहार छोड़ दिया। लेकिन जब मांसाहारी था तब भी अहिंसक तो था ही। छोड़ने पर भी, मैं जानता हूं कि कभी २ जब वह अपनी बहन के पास चला जाता था तब मांस का शोरबा या जब डाक्टर लोग आग्रह करते थे तो खा लेता था। लेकिन उस से उस की अहिंसा थोड़ी ही कम हो जाती थी! इस लिये यहां पर हमारी अहिंसा की व्याख्या परिमित है। हमारी अहिंसा मनुष्यों तक ही मर्यादित है।

॥ हिंसक और अहिंसक उद्योग ॥

लेकिन मांसाहारी अहिंसक तो बाज़ चीज़ छोड़ ही देता है। जैसे वह शिकार कभी नहीं करेगा। यानी जिस से हिंसा का विस्तार बढ़ता ही जाता है। इन प्रवृत्तियों में वह कभी न पड़ेगा। वह युद्ध में नहीं पड़ेगा। युद्ध में शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों में काम भी न करेगा। उन के लिये नए २ शस्त्रों की खोज नहीं करेगा। मतलब वह ऐसा कोई उद्योग नहीं करेगा जो हिंसा पर ही आश्रित है और हिंसा को बढ़ाता है।

अब काफी उद्योग ऐसे भी हैं जो जीवन के लिये आवश्यक हैं लेकिन वे बिना हिंसा के चल ही नहीं सकते। जैसे खेती का उद्योग है ऐसे उद्योग अहिंसा में आ जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उन में हिंसा की गुंजायश नहीं है अथवा वे बिना हिंसा के चल सकते हैं लेकिन उनकी बुनियाद हिंसा नहीं है। और वे हिंसा को बढ़ाते भी नहीं हैं। ऐसे उद्योगों में होने वाली हिंसा हम घटा सकते हैं और उसे

करते थे खेती भी यों ही चल जाती थी। समाज की सेवा ही मुख्य चीज थी। उद्योग करने का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ न था। समाज का संगठन ही ऐसा था। उदाहरणार्थ:— गांव में बढ़ई की ज़रूरत होती थी वह खेती के लिये औज़ार तैयार करता था लेकिन गांव उसे पैसे नहीं देता था। देहाती समाज पर यह बन्धन लगा दिया था कि उसे अनाज दिया जाय। उसमें भी हिंसा काफ़ी हो सकती थी। लेकिन सुव्यवस्थित समाज में उसे न्याय मिलता था। और किसी समय में समाज सुव्यवस्थित था ऐसा मैं मानता हूं।

शरीर—श्रम।

इसी में शरीर श्रम आ जाता है। मनुष्य अपने श्रम से थोड़ी सी ही खेती कर सकता है। लेकिन अगर लाखों बीघे ज़मीन के दो चार ही मालिक हो जाते हैं तो बाकी के सब मज़दूर हो जाते हैं। यह बगैर हिंसा के नहीं हो सकता। अगर आप कहेंगे कि वे मज़दूर नहीं रखेंगे यन्त्रों से काम लेंगे तो भी हिंसा आ ही जाती है। जिसके पास एक लाख बीघा ज़मीन पड़ी है उसे यह घमण्ड तो आ ही जाता है कि मैं इतनी ज़मीन का मालिक हूं। धीरे २ उसमें दूसरों पर सत्ता क़ायम करने का लालच आ जाता है। यन्त्रों की मदद से वह दूर २ के लोगों को भी गुलाम बना लेता है और उन्हें इसका पता भी नहीं होता कि वे गुलाम हो रहे हैं। गुलाम बनाने का एक खूबसूरत तरीका इन्होंने ढूंढ लिया है। जैसे फोर्ड है एक कारखाना बना कर बैठ गया है। चन्द आदमी उसके यहां काम करते हैं। लोगों को प्रलोभन देता है विज्ञापन निकालता है: हिंसक प्रवृत्ति का ऐसा मोहक रास्ता निकाल लिया है कि हम उसमें जाकर फंस जाते हैं। हमें इन बातों पर विचार करना है कि क्या हम उसमें फंसना चाहते हैं? या उस से बचना चाहते हैं।"

मेरा विशेष दावा।

अगर हम अपनी अहिंसा को अविच्छिन्न रखना चाहते हैं और सारे समाज को अहिंसक बनाना चाहते हैं तो हमें उसका रास्ता खोजना होगा। मेरा तो यह दावा रहा है कि सत्य, अहिंसा आदि जो यम हैं वे ऋषि मुनियों के लिये नहीं हैं। पुराने लोग मानते हैं कि मनु ने जो यम बतलाए हैं वे ऋषि मुनियों के लिये हैं व्यवहारी मनुष्यों के लिये नहीं हैं। मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज़ है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कन्धों पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खतम हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है मेरा यह दावा है कि अहिंसा सामाजिक चीज़ है केवल व्यक्तिगत चीज़ नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का पालन कर सकता है। मैंने इसी विश्वास पर चलने की कोशिश की और मैं मानता हूं कि मुझे उसमें निष्फलता नहीं मिली।

अहिंसा समाज का प्राण है।

"……मेरे लिये अहिंसा समाज के प्राण के समान चीज़ है यह सामाजिक धर्म है, व्यक्ति के साथ खतम होने वाला नहीं है। पशु और मनुष्य में यही तो भेद है। पशु को ज्ञान नहीं है मनुष्य को है। इसलिये अहिंसा उसकी विशेषता है। वह समाज के लिये भी लागू होनी चाहिये। समाज इसी के बल पर टिका है। किसी समाज में उसका विकास कम हुआ है किसी में अधिक विकास हुआ है। लेकिन उसके बिना समाज नहीं टिक सकता।" महात्मा जी ने अहिंसा धर्म को किस रूप में संसार के सामने रक्खा, किस प्रकार वे इसका पालन स्वयं करते थे और किस प्रकार वे अहिंसा का पालन हमारे से करवाना

चाहते थे वह उपर्युक्त अहिंसा पर प्रकट किए गए उनके विचारों से पाठक भली भांति समझ गए होंगे। वे अहिंसा धर्म को समाज का प्राण समझते थे। और कहते थे कि समाज इसके बिना टिक नहीं सकता। महात्मा जी कहा करते थे कि शस्त्रधारी पुरुष वीरता में अहिंसक व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। शस्त्रधारी के लिये तो शस्त्र का सहारा चाहिये और उसके बिना वह अपने आपको निर्बल अनुभव करता है। यही कारण है कि निःशस्त्र होकर वह शत्रु के सामने कायरता दिखाता है। शस्त्र के बिना वह अशक्त हो जाता है। अहिंसा धर्म अशक्तों का शस्त्र नहीं है, वह तो शक्तों का शस्त्र है। इसका पालन निर्बल लोग नहीं कर सकते। अहिंसा के विषय में ठीक यही मन्तव्य जैन धर्म का भी है। जैन धर्म भी अहिंसा को वीरधर्म मानता है।

हिंसा-अहिंसा विषयक बौद्ध दृष्टिकोण।

जैनधर्म के समान बुद्ध धर्म की भी नींव तो "अहिंसा परमो धर्मः" पर ही रक्खी गई थी और महात्मा बुद्ध ने भी भगवान् महावीर स्वामी की तरह वैदिकी हिंसा का विरोध किया। वास्तव में देखा जाए तो बुद्ध का वैदिकी हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन ही बुद्ध धर्म को व्यापक रूप से फैलाने में कारण बना। अहिंसा के विरोध से महात्मा बुद्ध को बड़ी सफलता मिली। वह समय ऐसा था कि हिंसा बहुत बढ़ी हुई थी। यज्ञ के नाम पर पशु बलि आम होगई थी। अत्याचारों से तंग आई भारतीय समाज किसी सुधारक की ताक में थी। ऐसे समय में महात्मा बुद्ध की आवाज लोगों को ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा के समान लगी। सब लोग उनके उपदेशों से आकर्षित हुए और अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ। किंतु यह देखकर आश्चर्य होता है कि बुद्ध के बाद उनके अनुयायी व्यापक रूप में हिंसा में प्रवृत्त हुए और मांसाहारी बने।

बुद्ध स्वयं उनसे सहमत थे ? इसका उत्तर हमें बौद्धधर्म ग्रन्थों से ही मिलता है किन्तु वह कितना भिन्न है यह पाठक स्वयं समझ जाएंगे। जिस प्रकार वैदिक और जैनधर्मों में मांसपरक प्राचीन पाठों का वनस्पतिपरक अर्थ किया गया और हिंसा के कलङ्क को धोया गया इसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी महायान सङ्घ की उत्पत्ति हुई। महायान सङ्घ के विद्वानों ने* महात्मा बुद्ध द्वारा लिये गए मांसपरक सूकर-मद्दव आदि शब्दों का 'सूकर के द्वारा मर्दित बाँस का अंकुर' 'शर्करा का बना हुआ सूकर के आकार का खिलौना' आदि अनेक अर्थ करके यह सिद्ध किया है कि सूकर-मद्दव से सूअर का मांस अभिप्रेत नहीं है और बुद्ध ने अपनी भिक्षा में मांसाहार का ग्रहण कभी नहीं किया।

बौद्धधर्म की हीनयान और महायान ये दो बड़ी शाखाएँ हैं। प्रारम्भ से ही इन दोनों में पारस्परिक विरोध भी बढ़ा रहा है। महायान पक्ष के लोग आमिषाहार की कड़ी आलोचना और निन्दा करते हैं। वे यह मानने के लिये कभी भी तैयार नहीं कि महात्मा बुद्ध आमिषा-हार के पक्षपाती थे। महायान परम्परा का लंकावतार एक मान्य धर्मग्रन्थ है। उसके एक प्रकरण में महामति बोधिसत्त्व ने एक बार महात्मा बुद्ध को प्रश्न किया कि आप आमिषाहार के गुण दोषों का वर्णन करें। बहुत से लोगों का कथन है कि आपने स्वयं आमिषाहार किया है और अपने शिष्यों को भी ऐसी आज्ञा दी है। आप यह स्पष्ट बताएँ कि भविष्य में हम आमिषाहार के सम्बन्ध में किस प्रकार का उपदेश लोगों को दें। इसके उत्तर में महात्मा बुद्ध ने कहा:—'प्राणीमात्र के प्रति मित्रता का उपदेश देने वाला भला किस प्रकार मैं स्वयं मांसा-हार कर सकता हूं। भविष्य में मांसलोलुपी लोग मुझ पर झूठा दोष

* देखो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३२

कल्याण अहिंसा धर्म की शरण में आकर ही हो सकेगा। अहिंसा धर्म का सबसे बड़ा महामन्त्र या उपदेश है 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् संसार में सबको अपने समान समझो। जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो वैसा ही दूसरों से भी करो। यदि इस महान् उपदेश के तत्व को संसार के लोग समझे होते और उन्होंने इस पर अमल किया होता तो संसार में बड़े २ युद्धों का सूत्रपात न हुआ होता।

गत दो महायुद्धों में मानव जाति का बहुत बड़ी संख्या में संहार हुआ। इस संहार का मुख्य कारण था हिंसा प्रवृत्ति जिसके द्वारा बलवान् राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को हड़प कर जाना चाहता था। उसी प्रकार की प्रवृत्ति वर्तमान समय में भी अनेक राष्ट्रों में दृष्टिगोचर होती है। बलवान् राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को खा जाना चाहते हैं और तरह २ की धमकियों से उन्हें डराते हैं। सारे विश्व में बड़े २ नेताओं और वैज्ञानिकों का झुकाव तृतीय महायुद्ध की ओर जा रहा है। बड़े २ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क भी दिवानिश इसी प्रकार की खोज में लगे हुए हैं कि किस प्रकार जल्दी से जल्दी कोई ऐसा आविष्कार हो सके जिसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र मानव जाति का संहार हो जाये। परमाणु बम और हाइड्रो इलेक्ट्रिक बम जैसे भयानक और घातक आविष्कारों से भी उनको सन्तोष नहीं हो रहा। वैज्ञानिकों के मस्तिष्क की वह अलौकिक शक्ति जो मानव जाति के उत्थान और निर्माण में लगनी चाहिये थी दुर्भाग्यवश उसके संहार में लगी हुई है। कितनी विडम्बना है इस युग की जिसको लोग विकासवाद का युग कहते हैं। अपने ही संहार के लिये प्रवृत्त होना ही क्या विकासवाद के युग का लक्षण है? यह हिंसा के मार्ग की ओर बढ़ना ही विनाशवाद की निशानी है। यदि इसी प्रकार की मानवसमाज की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर पतन की ओर ही बढ़ती गई तो मानव जाति को एक बहुत बड़े संहार में से गुजरना होगा

जिसकी कल्पना से भी दिल दहल उठता है ? उस संहार से बचने के लिये मानवजाति को चाहिये कि वह अहिंसा धर्म की शरण ले और भौतिकवाद के आकर्षणों को ही सब कुछ न समझे। विश्व का युग अत्यधिक रूप से भौतिकवाद की ओर जा रहा है और आध्यात्मिक तत्त्व की उपेक्षा की जा रही है। यही कारण है कि विश्व के किसी कोने में भी मानसिक या आत्मिक शान्ति नहीं है। मनुष्य ने बड़े से बड़े महत्त्वप्रद आविष्कार करके प्रकृति पर विजय पाई है। उसने बड़े आश्चर्यजनक चमत्कार किये हैं किन्तु भौतिकवाद की इस उन्नति से वह आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त कर सका है। उल्टा वह उससे बहुत दूर चला गया है। आत्मिक और मानसिक शान्ति के लिये आध्यात्मिकवाद के रहस्य को समझने की आवश्यकता है जिसकी भौतिकवाद उपेक्षा करता है। आध्यात्मिकवाद का सबसे बड़ा आदर्श है आत्मिक और मानसिक शान्ति और यदि जीवन उससे वंचित है तो भले ही कितनी ही सम्पत्ति और ऐश्वर्य के साधन मनुष्य के पास हों वे सब निरर्थक हैं। एक अकिंचन पुरुष भी जिसका जीवन शान्तिपूर्ण है उस अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त समृद्ध-पुरुष से लाख दर्जे अच्छा है जो विक्षुब्ध रहता है और जिसको चिन्ता के मारे निद्रा तक दुर्लभ होती है। आज का युग जो शान्ति से वंचित है उसका मुख्य कारण भौतिकवाद का अधिक विकास और उसकी ओर प्रवृत्ति है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज महर्षियों ने भौतिकवाद की उपेक्षा करके अहिंसात्मक आध्यात्मिकवाद का सन्देश मानवजाति को दिया और कहा कि यदि कल्याण चाहते हो तो समता रक्खो और सब प्राणियों को शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने दो। उन्होंने कहा कि विश्व की व्यवस्था को समीचीन प्रकार से चलाने के लिये अहिंसा धर्म का पालन परमावश्यक है।

अहिंसा धर्म की शरण लेकर ही विश्व युद्धों की पुनरावृत्ति रुक सकती है और संसार से अशान्ति के बादल दूर हट सकते हैं। अहिंसा धर्म की शरण लेकर ही मानव जाति सुख और शान्ति की नींद सो सकती है। अतएव विश्व के सब राष्ट्रों का कर्तव्य है कि वे स्वार्थ बुद्धि छोड़कर मानवता के वास्तविक तत्त्व अहिंसा धर्म को समझें और उसका पालन करें। 'अहिंसा धर्म के पालन से ही विश्व का कल्याण होगा।
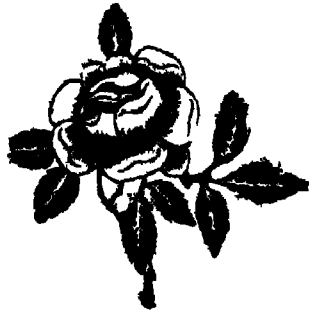
अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की अपनी विभूति है और जैनदर्शन की एक विशेषता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अनेकान्तवाद को जैनागम का जीव या बीज बतलाया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार जीव के बिना मृतक शरीर किसी काम का नहीं होता इसी प्रकार अनेकान्त-वाद के बिना जैनागम भी सर्वथा निरर्थक और निस्सार है। यही कारण है कि जैनधर्म या जैन दर्शन का जो महत्व है वह अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के कारण ही है। अनेकान्तवाद एक महान् दर्शन है। वह ऐसा दर्शन है जो संसार के अन्य दर्शनों के सैद्धान्तिक कलह को मिटाकर उन में समन्वय कराता है। और उन के जीवन को पूर्ण और सत्य-मार्ग की ओर प्रेरित करता है। संसार में व्यापकरूपसे फैली हुई असहि-ष्णुतारूपी विष का मूलकारण साम्प्रदायिक रोग है और अनेकान्तवाद उस रोग की निवृत्ति के लिये अमोघ औषध है। दूसरे की अच्छी से अच्छी बात को या सिद्धान्त को भी बुरा बताना और अपने खोटे मन्तव्य का भी समर्थन करना, इस वातावरण की जननी साम्प्रदायिकता है। उदारता और विशालता साम्प्रदायिकता के पास तक नहीं फटकती। वह कटुता और विद्वेष फैलाती है। उस कटुता और विद्वेष को दूर करके अनेकान्तवाद माधुर्य और मैत्री का संचार करता है। अनेकान्तवाद का सूर्य, साम्प्रदायिकता, मतान्धता या कर्मान्धता- के अन्धकार को दूर कर संसार को सुखद-ज्योति का प्रकाश देता है। यह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य [illegible] वालों के, भ्रम को [illegible] करता,

है और वादी प्रतिवादियों के शास्त्रीय कलह को मिटाने के लिये ऐसी व्यवस्था देता है जो दोनो को मान्य हो। अनेकान्तवाद की बुनियाद सत्य पर टिकी हुई है इस कारण वह सदा निष्पक्ष व्यवस्था का स्थापन करता रहा है। इसी महानता के कारण अनेकान्तवाद ने संसार के अन्य दर्शनों में ऊंचा स्थान प्राप्त किया है।

अन्य दर्शनों पर प्रभाव।

भारत के अन्य दर्शन वैदिक और बौद्ध भी अनेकान्तवाद से बहुत प्रभावित हुए। वैदिक और बौद्ध धर्मों के दार्शनिक ग्रन्थों में अनेकान्त दर्शन की मान्यता के उदाहरण बहुत मिलते हैं। निस्सन्देह वैदिक धर्म के कुछ दार्शनिक विद्वानोने अनेकान्त सिद्धान्त का समय २ पर खण्डन भी किया। किन्तु वैदिक दर्शन इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। बौद्ध सिद्धान्त पर तो अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत ही प्रभाव पड़ा। दुर्भाग्यवश बहुत से कट्टर पन्थियों ने इसका पालन नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि दिन प्रतिदिन धर्मान्धता बढ़ती गई और वैमनस्य का वातावरण फैलता गया। यदि अनेकान्तवाद के समन्वय और शान्ति के सन्देश को संसार ने सुना होता तो उसका इतिहास और ही प्रकार से लिखा होता।

जीवन में धर्म की प्रधानता।

मानवजाति के इतिहास से पता चलता है कि हमारे पूर्वजों ने ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों के सुख और शान्ति के लिये धर्म को ही प्रधान स्थान दिया था। संसार-सागर को पार करने के लिये वे एकमात्र धर्म को ही तरणी समझते थे। मानव-जीवन की भयानक आपत्तियों और घोर कष्टों का अन्त उन्होंने धर्म में ही देखा

जिन में असंख्य निरपराध प्राणियों का रक्तपात हुआ। यौरोप की इन्क्वीज़ीशन और स्टार चैम्बर न्यायालय नाम की दो धार्मिक अदालतों में जो रोमांचकारी दुर्घटनाएं हुईं उन को पढ़ कर हृदय दहल उठता है। इन दोनों धार्मिक न्यायालयों में धर्म के नाम पर अनेकों निरपराध व्यक्तियों के सिर तलवारों से काट दिये जाते थे। और बहुतों को जिन्दा ही आग में जला दिया जाता था। केवल इन दो धार्मिक अदालतों में ही धर्म के नाम पर एक करोड़ निरपराध व्यक्तियों को मृत्यु का दण्ड दिया। इसी प्रकार भारत में औरङ्गज़ेब की धर्मान्धता को लोग अभी तक नहीं भूले हैं। संसार में धर्म के नाम पर हृदय को कंपाने वाली यंत्रणाएं लोगों को दी गईं। स्त्रियों पर अत्याचार किये गए और अबोध बालकों को तलवार के घाट उतारा गया। धर्म के नाम पर मानव ने ऐसे २ घोर पाप किये जिन की सम्भावना राक्षसों और पशुओं से भी नहीं की जा सकती। बीसवीं सदी वैज्ञानिक युग है। इस को विकासवाद का युग भी कहा जाता है। इसका मानव बड़ा सभ्य और उन्नत माना जाता है किन्तु उसने भी धर्म की दुहाई देकर ऐसे २ अत्याचार किये हैं जिन को प्रकट करते भी लज्जा आती है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। अभी थोड़ा समय पहले सन् १९४७ में जब भारत का विभाजन हुआ उस समय धर्मान्धता के कारण मानव ने मानव पर जो भीषण अत्याचार किये वे किस से भूले हैं। धर्म के नाम पर मनुष्य ने अपनी जाति और भाई बन्धुओं तक पर ऐसे २ घोर अन्याय किये हैं कि यदि उन की तुलना राक्षस या पशु से की जाय तो यह उनको लाञ्छन लगाना होगा। इस प्रकार धर्म के नाम पर हुए अत्याचारों को यदि विस्तार पूर्वक लिखा जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जाए। अस्तु, यह सब क्यों हुआ? क्या धर्म ने मानव जाति को यही कुछ सिखाया था? क्या धर्म की बुनियाद हमारे पूर्वजों ने इन्हीं अत्याचारों

पर रक्खी थी ? क्या धर्म का आविष्कार मानव जाति के संहार के लिये किया गया ? क्या धर्म का प्रधान लक्ष्य संसार में फूट डालकर परस्पर कलह और अत्याचार करवाना ही था ? इन सब प्रश्नों का उत्तर भी निषेधरूप में ही मिलता है। इन प्रश्नों का उत्तर जैनधर्म का अनेकान्तवाद देता है। अनेकान्तवाद का कहना है कि धर्म का उद्देश्य बहुत ऊंचा है धर्म उत्तम शिक्षा देता है और संसार को उन्नति पथ की ओर ले जाता है। धर्म फूट नहीं किन्तु संगठन और शान्ति के संदेश का प्रचार करता है। किन्तु समझने वालों ने उस का ठीक स्वरूप नहीं समझा। उन्हों ने उसे गलत समझा और उस गलत समझने का परिणाम यह हुआ कि संसार में धर्म के नाम पर अनेक उत्पात और अत्याचार हुए धर्म का नाम बदनाम हुआ। अतएव संसार में जो अत्याचार हुए वे धर्म को समझने वालों की अज्ञानता के कारण हुए, धर्म का इस में कोई दोष नहीं था। धर्म की नींव तो सत्य पर ही रक्खी गई थी और उस का आविष्कार मानव जाति के कल्याण और सुखशान्ति के लिये ही किया गया। धर्म का प्रधान लक्ष्य संसार से कलह और वैमनस्य मिटाकर संगठन का ही प्रचार करना रहा है किन्तु समझने वालों ने धर्म के पूर्णस्वरूप को न समझ कर उस के एकान्त स्वरूप को समझा और उसी के कारण भिन्न धर्मों में कलह का बीजारोपण हुआ। उदाहरण के लिये जैन साहित्य में एक कहानी आती है जो काफी प्रसिद्ध है।

"किसी देहात में दो अन्धे पुरुष रहते थे। उन्होंने कभी हाथी नहीं देखा था। एक दिन अकस्मात् कोई धनी पुरुष हाथी पर चढ़कर उस देहात में आया। यह समाचार उन दो अन्धों को मिला उन्हें हाथी देखने की बड़ी उत्कण्ठा हुई और वे उसी देखने को गए। एक अन्धे ने जाकर हाथी की पूंछ को पकड़ा। दूसरे ने हाथी की सूंड पर

हाथ फेरा। तीसरे ने उसके पेट पर हाथ चलाया। चौथे ने हाथी के कान को पकड़ा। पांचवें का हाथ हाथी के दान्त पर जा पड़ा, और छठे ने उसकी सूंड पर जा हाथ फेरा। इस प्रकार वे छः अन्धे पुरुष हाथी को देखकर अपने घर लौट आए। सायंकाल जब वे सब इकट्ठे बैठे तो हाथी का वर्णन करने लगे। जिसने केवल पूछ को छुआ था उसने हाथी को रस्से के समान बताया। जिसने टांग को पकड़ा था उसने हाथी को खम्भे के समान बताया। जिसने हाथी के पेट पर हाथ फेरा था उसने उसे एक बड़े घड़े के समान बताया। जिसने केवल कान को छुआ था उसने हाथी को बड़े सूप के समान वर्णन किया। जिस ने केवल हाथी का दांत पकड़ा था उस ने उसे सींग के समान बताया। जिस ने हाथी के सूंड का स्पर्श किया था उस ने हाथी को मूसल जैसा वर्णन किया। इस प्रकार सब ने हाथी का भिन्न २ स्वरूप वर्णन किया। और अपने समझे स्वरूप को सत्य मान कर वे आपस में झगड़ने लगे। उन में से प्रत्येक अन्धा ज़ोरदार शब्दों में अपने देखे हस्ति के स्वरूप की ही पुष्टि करता था। इतने में आंखों वाला एक पुरुष वहाँ से गुज़रा। वह उन के झगड़े के मूल कारण को समझ गया और उस ने उन से कहा कि तुम व्यर्थ में ही आपस में झगड़ रहे हो। अनेकान्त के सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में तुम सभी सच्चे हो। तुम में से किसी ने भी संपूर्ण हाथी को नहीं देखा किन्तु उस के भिन्न २ अंगों को देखा है और तुम उन भिन्न अंगों को ही हाथी समझ बैठे हो। तुम्हारी हर एक की बात उस अंग की अपेक्षा जो उस ने देखा है सच्ची है। पूंछ की अपेक्षा हाथी रस्से के समान, टांग की अपेक्षा खम्भे के समान, पेट की अपेक्षा घड़े के समान, कान की अपेक्षा सूप के समान, दांत की अपेक्षा सींग के समान, और सूंड की अपेक्षा मूसल के समान कहला सकता है किन्तु एकान्त दृष्टि से हाथी को रस्से या खंभे के समान समझना अज्ञानता है।'

इस कथानक में अनेकान्तवाद का सार आजाता है। इस से यह भी भलीभांति सिद्ध है कि किसी भी वस्तु को यदि हम एकान्त दृष्टि से देखेंगे तो हम उस के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान पूर्णता से करने के लिये अनेकान्त दृष्टि की आवश्यकता है और अनेकान्त दृष्टि अनेकान्त दर्शन के ज्ञान से ही मिल सकती है।

॥ एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म ॥

अनेकान्तवाद के प्रतिपक्षियों ने यह कह कर कि एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते अनेकान्तवाद का प्रत्याख्यान करने का प्रयत्न किया किन्तु वे इस में सफल नहीं हो सके। हम देखते हैं कि संसार के सारे पदार्थ अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक हैं। जगदत्त नाम का एक ही पुरुष किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का पति, किसी का मामा और किसी का नाना आदि होता है। जिस समय पुत्र के द्वारा उस को पिता कह कर पुकारा जाता है उस समय वह अन्य पुत्र, पति, मामा, और नाना आदि अनेक विरुद्ध धर्मों को भी धारण करता है इससे यह स्पष्ट है कि वह अनेक विलक्षण कार्यों के अस्तित्व को रखते हुए अनेक धर्मात्मक है। जगदत्त न केवल पिता ही है, न केवल पुत्र ही है और न केवल पति ही है किन्तु भिन्न २ अपेक्षा से वह सब कुछ है। दार्शनिक विद्वान् माननीय पं० माणिक चन्द्र जी ने अनेकान्तवाद का विश्लेषण बड़े ही सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार किया है—*

"प्रत्येक वस्तु स्वरूप से पर्याय में आदि है किन्तु निजरूप से [illegible]

---

*देखो जैन दर्शन का स्याद्वाद पृष्ठ [illegible]

अग्नि में वही पर्वत ठहरता है। स्वनिष्ठ विषयिता निरूपित विषयता सम्बन्ध से अर्थ में ज्ञान निवास करता है, साथ ही स्वनिष्ठ विषयिता निरूपित विषयिता सम्बन्ध से ज्ञान में अर्थ ठहर जाता है। जन्यत्व सम्बन्ध से बेटे का बाप है। उसी समय जनकत्व सम्बन्ध से बाप का बेटा है। समवाय सम्बन्ध से डालियाँ वृक्ष हैं, तदैव समवेतत्व सम्बन्ध से वृक्ष में डालियां हैं।

यों धर्मीका धर्म बन जाना और धर्म का धर्मी बन जाना जैन दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कोई विरोध नहीं रखता है। अग्नि में दाहकत्व, पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व, प्रकाशत्व धर्मों के साथ ही शैत्यसम्पादकत्व धर्म भी है। अग्नि से झुरसे हुए को अग्नि से ही सेका जाता है। 'विषस्य विषमौषधम्' गर्मी का इलाज गर्मी ही है। जल से सींचने पर तो घाव में चौगनी दाह बढ़ जाती है। जल से जमाई बर्फ के टुकड़े २ में गर्मी घुसी हुई है, समुद्र में बड़वानल है।"

इससे पाठकों को भली भांति स्पष्ट होगया होगा कि विरोधी धर्म एक स्थान में रह सकते और रहते हैं। संसार के सब पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं अतः उनको अनेकान्तवाद की दृष्टि से देखना ही अनेकान्त-वाद का सार है। इसी अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहते हैं। स्यात् शब्द का अर्थ है 'कथंचित्' या किसी की अपेक्षा से। इसलिये बहुत से लोग अनेकान्तवाद को कथंचिद्वाद और अपेक्षावाद के नामों से भी पुकारते हैं किन्तु सिद्धान्त वास्तव में एक ही है।

सप्त भंगी।

इसी स्याद्वाद को जैन दर्शन में सप्तभंगी के रूप में वर्णन किया है। वस्तु और उसके प्रत्येक धर्म का विधान और निषेध सापेक्ष होने के कारण वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से किया जा सकता है। जैसे:—

प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र दुनिया भर के मनुष्यों का पुत्र नहीं है और न देवदत्त संसार भर के पुत्रों का पिता है। यदि देवदत्त अपने को संसार भर के पुत्रों का पिता मानने लगे तो उस पर वह मार पड़े जो जीवन भर भुलाए से भी न भूले। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते हैं कि देवदत्त पिता है नहीं भी है। अतः संसार में जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु हो नहीं सकती। इसी अपेक्षावाद का सूचक स्यात्' शब्द है जिसे जैनतत्त्वज्ञानी अपने वचन व्यवहार में प्रयुक्त करता है। इसी को दार्शनिक भाषा में स्यात् सत् और स्यात् असत् कहा जाता है।

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है; अतः प्रत्येक वस्तु में दोनों धर्मों के रहने पर भी वक्ता अपने २ दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं। जैसे दो आदमी सामान खरीदने के लिये बाजार जाते हैं; वहां किसी वस्तु को एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनों में बात बढ़ जाती है तब दुकानदार या कोई राहगीर उन्हें समझाते हुए कहता है—भाई! क्यों झगड़ते हो! यह चीज अच्छी भी है और बुरी भी है। तुम्हारे लिये अच्छी है और इनके लिये बुरी है। अपनी २ निगाह ही तो है। ये तीनों व्यक्ति तीन तरह का वचन व्यवहार करते हैं—पहला विधि कहता है, दूसरा निषेध और तीसरा दोनों।

वस्तु के उक्त दोनों धर्मों को यदि कोई एक साथ कहने का प्रयत्न करे तो वह कभी भी नहीं कह सकता। क्योंकि शब्द एक समय में एक ही धर्म का कथन कर सकता है। ऐसी दशा में वस्तु अवक्तव्य कही जाती है। उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में

जाती है तो उसका जीर्णपना एक ही दिन के परिवर्तन का परिणाम नहीं होता किन्तु सूक्ष्म रूप से वह वस्तु प्रतिक्षण जीर्ण होती रहती है जिसका हमें पता नहीं चल पाता। जब वह पूर्णरूप से जीर्ण होजाती है तब हम उसे चक्षु इन्द्रिय से देख पाते हैं। अतएव पर्याय दृष्टि से विचार करने पर बौद्धों का वस्त्र को क्षणिक मानने का मन्तव्य ठीक सिद्ध होता है।

उसी वस्त्र को जब हम द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं तो उसे अविनाशी पाते हैं। जिन परमाणुओं से वह वस्त्र बना है वे नाशवान् नहीं है। उनके आकार में परिवर्तन भले ही होता रहे किन्तु द्रव्य का नाश कभी नहीं होता। इस कारण द्रव्य दृष्टि से वही वस्त्र नित्य सिद्ध होता है जो पर्याय की दृष्टि से अनित्य था। इस प्रकार नित्य और अनित्य ये दोनों धर्म वस्त्ररूप वस्तु के अंश हैं। पूर्ण वस्तु नित्यानित्यात्मक है। इस प्रकार जैन धर्म ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से बौद्ध और सांख्यमतानुयायियों के विरोध को शान्त कर दिया और निष्पक्ष व्यवस्था दी जो दोनों को मान्य हो।

इस तरह अनेकान्तवाद अपना निष्पक्ष निर्णय देकर अन्य धर्मों के सैद्धान्तिक कलह को मिटाता रहा है। अन्य धर्मों में समन्वय कराना अनेकान्तवाद का उद्देश्य रहा है। यदि संसार ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को भली भाँति समझा होता और उसका पालन किया होता तो संसार का इतिहास धर्म के नाम पर होने वाले भयानक रक्तपात और घोर अत्याचारों से कभी दूषित न होता। आजकल भी जो धर्म के नाम पर अनेक वाद विवाद और कलह होते रहते हैं उनका अन्त भी अनेकान्त दर्शन की शरण में आकर ही हो सकता है। अनेकान्तवाद संसार को शान्ति और प्रेम का सन्देश देता है।

स्याद्वाद के वर्तमान अनुयायी।

यह तो हुआ संसार के प्रति स्याद्वाद का सन्देश और उपयोग। अब देखना यह है कि जिस धर्म का यह दर्शन है, उस के वर्तमान अनुयायियों ने इस को किस प्रकार समझा है? क्या वे इस का सदुपयोग और पालन कर रहे हैं? क्या वर्तमान जैन धर्मानुयायी अनेकान्तवाद के वास्तविक सार और महत्व को समझते हैं और उस का पालन करते हैं? क्या जैन समाज के किसी भी सामाजिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में कार्यरूप से इस सिद्धान्त की शरण ली जाती है? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर निराशाजनक ही मिलता है। दूसरों को एकान्तवादी बनने से रोकने वाले आज हम स्वयं एकान्तवादी बने बैठे हैं। इतर धर्मों का समन्वय कराने वाले आज हम अपने ही धर्म का समन्वय नहीं कर पाते। सच पूछो तो दूसरों के सामने अपने दर्शन की महिमा गाने वालों ने ही आज अपने दर्शन की दुर्दशा कर डाली है। मूर्तिपूजक, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरहपंथी, यति और फिर उनमें भी गच्छ, आम्नाय, टोले आदि जैन धर्म के अनेक सम्प्रदाय और शाखाओं में कितना भीषण वैमनस्य, विद्वेष और कटुता बढ़ रही है। एक ही संस्कृति के पुजारी होकर भी सब एक दूसरे को शत्रु समझते हैं। एक शाखा के अनुयायी दूसरी शाखा वाले को मिथ्यात्वी कहते हैं और आज के सुधारक विद्वानों और [illegible] की [illegible] एक दूसरे की निन्दा करने में लगी होती है। आज सब एकान्तवाद को पकड़े बैठे हैं, जिसका परिणाम [illegible] वैमनस्य और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

में एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं को आहार पानी तक देने को रोकते हैं। सौगंदें खिलाई जाती हैं और नियम तक करवाए जाते हैं। मूर्तिपूजक की कन्या यदि स्थानकवासी के यहां विवाही जावें या स्थानकवासी की मूर्तिपूजक के यहां विवाही जावे तो साम्प्रदायिक भिन्नता के कारण उस कन्या से बुरा व्यवहार तक करने से संकोच नहीं किया जाता। खुल्लम खुल्ला एक दूसरे को भड़काने वाले व्याख्यान देते हैं। एक दूसरे को काफिर ठहराते हैं, बाईकाट करते हैं और जाति से बहिष्कार तक करने में तुल जाते हैं। कहां तक लिखा जाय जैन समाज में आज जितनी फूट है शायद ही अन्य किसी जाति या धर्म में होगी। क्या यही अनेकान्तवाद की शिक्षा है? क्या इसी प्रकार अनेकान्तवाद को जीवन में उतारा जाता है? क्या यही अनेकान्तवाद का मर्म और सन्देश है? क्या अनेकान्तवाद के महत्व को प्रकट करने का यही उत्तम ढंग है? क्या दूसरों के सामने अनेकान्तवाद के आदर्श को प्रकट करने का यही सुन्दर प्रकार है? कितनी लज्जा की बात है हमारे लिये कि विश्व को समन्वय और शान्ति से भरा हुआ अनेकान्तवाद का सन्देश देने वाले जैन धर्म के अनुयायी आज स्वयं एकान्तवादी बने बैठे हैं। जिसका पालन हम स्वयं नहीं कर रहे, दूसरों से उसका पालन करवाने की आशा कैसे कर सकते हैं।

संगठन की आवश्यकता

अब भी समय है और भूलें सुधारी जा सकती हैं। सारा संसार आगे बढ़ रहा है और हम पीछे हट रहे हैं। आखिर कितनी है संख्या हमारी? बहुत थोड़ी है और उसमें भी इतने सम्प्रदाय और [illegible]। इतनी बड़ी फूट! यदि यही दशा और कुछ काल तक [illegible] रही तो जैन समाज पतन के गर्त से बच नहीं सकेगा। संगठन

एक दूसरे से पूछता है वह है —'आप कौनसी सम्प्रदाय को मानते हैं ? दिगम्बरी हैं, श्वेताम्बरी हैं या तेरह पंथी हैं ?' यद्यपि यदि दोनों एक ही सम्प्रदाय के निकले तब भी ठीक वरन् इन दोनों का केवल जैन होना इनको एक ही प्रेमसूत्र में नहीं बांध सकता। यहीं तक नहीं एक ही सम्प्रदाय के होकर भी यदि दोनों के गुरु भिन्न हुए तो भी वे एक दूसरे से पीठ मोड़ कर ही चलते हैं। कितनी छोटी और क्षुद्र बातें हैं ये ! क्या इसी प्रकार के व्यवहार से जैन समाज को उन्नति पथ पर लाने की सम्भावना की जा सकती है ? वर्तमान जैन समाज के प्रायः जितने सुधारक और प्रचारक हैं उन सबका ध्यान एकमात्र बाड़े बन्दियों की ओर लगा हुआ है। सारे जैन समाज का हित किस बात में है इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। कोई यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि इन बाड़े बन्दियों से सारे जैन समाज का कितना ह्रास होता जा रहा है और उसका फल सारा जैन समाज भुगत रहा है। कोई भी इस एकान्तवाद के भीषण परिणाम पर ध्यान नहीं देता। यदि देता होता तो इस प्रकार उत्तरोत्तर गुटबन्दियों की अभिवृद्धि न हो पाती। इन गुटबन्दियों के कारण समाज के लाखों रुपये पारस्परिक झगड़ों के परिणामस्वरूप मुकदमों को लड़ने में व्यय किये जाते हैं। इस प्रकार समाज सुधार कर धन को न लगा कर उसका दुरुपयोग किया जाता है या दूसरे शब्दों में समाज को मिटाने के लिये व्यय किया जाता है। यही धन यदि समाज की शिक्षा, स्वास्थ्य और आर्थिक उन्नति पर खर्च किया जाता तो कितना उपकार और लाभ होता किन्तु इन बातों की ओर ध्यान देने की फुरसत किसको मिलती है, झगड़ों से समय बचे तब न। अतः, हमें ऐसी इन बातों को छोड़ना होगा। समाज में संकुचित वातावरण पैदा करने वाली सब शक्तियों का नाश करना परमावश्यक है ऐसा करने से ही हम अनेकान्तवाद की विशालता की ओर बढ़ सकते हैं।

अन्त में मैं अपने भाइयों से यही प्रार्थना करूंगा कि यदि वे जैन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो सब साम्प्रदायिक मतभेदों को और गुटबन्दियों को मिटा दें और जैन समाज में संगठन पैदा कर के उस की उन्नति के लिये कटिबद्ध हो जाएं। वे छोटी २ बातों को तुच्छ कर समाज के अपने सुधार क्षेत्र में उतरें, अनेकान्त-वाद का पहले स्वयं पालन करें और फिर उस का उपदेश पूर्ववत् संसार को दें। जैन धर्मावलम्बी आज अपने धर्म को, अपनी संस्कृति को और अपने दर्शन को भूल गए हैं। वे नाममात्र के जैनी रह गए हैं। उन को चाहिये कि वे विश्व को शांति और संगठन का सन्देश देने वाले अपने अनेकान्त दर्शन को समझें और उसको जीवन में उतारें। अनेकान्तवाद के पालन से ही सबका कल्याण होगा।

श्रमण-संस्कृति में ईश्वर का स्थान

संसार के सब तत्त्वों और रहस्यों में ईश्वर ही सबसे अधिक दुरवगाह्य तत्त्व और रहस्य है। एक ही तत्त्व की खोज और ज्ञान के लिये जगत् में अनेक धर्म, सम्प्रदाय और सिद्धान्तों की सृष्टि ही ईश्वरीय गूढ़ तत्त्व को सिद्ध करती है। आस्तिकवाद से सम्बंध रखने वाले या दूसरे शब्दों में कर्मसिद्धान्त को मानने वाले संसार के प्राय. सभी धर्म और सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता को मानते ही हैं। वे ईश्वर के लक्षण, गुण या परिभाषाएं भले ही अपने २ दृष्टिकोण से भिन्न २ करते हों और मानते हो किन्तु उसकी सत्ता के विषय में किसी को भी विवाद नहीं है। नीचे लिखे उद्धरण से ईश्वर के विषय मे अनेक धर्मों और सम्प्रदायो की श्रद्धा का भली प्रकार पता चलता है:—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

अर्थात्–जिस ईश्वर को शिवोपासक शिव रूप में, वेदान्ती लोग ब्रह्म रूप में, बौद्ध बुद्ध रूप में, प्रमाणपटु नैयायिक कर्ता रूप में, जैनशासन को मानने वाले जैन अर्हन् के रूप में, और मीमांसक

कर्म रूप में भोगते हैं। ऐसा तीन लोकों का स्वामी ईश्वर तुम्हारी इच्छा को अनुरूप फल दे।

अनेक धर्मों और सम्प्रदायों ने ईश्वर को अपने २ सिद्धान्तों में किस प्रकार रंग रक्खा है, उसकी सत्ता में कैसी भिन्नता मानी है और उसके लक्षण और स्वरूप में कितना अन्तर किया है ये सब सूत्ररूप में उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट समझे जा सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि उपासना के प्रकार भिन्न २ होते हुए भी ईश्वरीय सत्ता के विषय में कोई सन्देह नहीं। इसी मन्तव्य की पुष्टि भगवान् कृष्ण गीता में भी अर्जुन को उपदेश देते हुए करते हैं कि जो लोग जिस किसी रूप में भी मेरी उपासना करते हैं उनको मैं उसी रूप में मिलता हूं। जिस प्रकार एक ही नदी के अनेक प्रवाह बन जाते हैं और अन्त में सारे ही अन्तिम लक्ष्य सागर में जा मिलते हैं इसी प्रकार भिन्न २ धर्मों और सम्प्रदायों के ईश्वर की उपासना के मार्ग अनेक अवश्य हैं किन्तु ईश्वर रूप अन्तिम लक्ष्य सबके सामने एक ही है।

ईश्वर विषयक ज्ञान की उत्पत्ति का मूल।

मानव जाति किस प्रकार भिन्न २ अवस्थाओं और परिस्थितियों में से गुजर कर उत्तरोत्तर विकास और उत्थान की ओर बढ़ी इसका बहुत कुछ पता हमें विश्व के प्राचीन इतिहास से मिलता है। मनुष्य अपूर्ण है अतः वह सदा से पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता आया है। वह सदा से ही ऐसा नहीं रहा जैसा वह आज है, किन्तु उसको आज का ज्ञान अनेक सदियों के निरन्तर प्रयत्न का ही परिणाम है। इस ज्ञान के उपार्जन के लिये कई बार उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु पूर्णता की ओर बढ़ने की

जगत ने मनुष्य को निराश नहीं होने दिया। जिस प्रकार का संघर्ष वह आज कर रहा है इसी प्रकार अनादि काल से करता आया है; अन्तर केवल इतना है कि आज का संघर्ष भौतिकवाद की ओर है और प्राचीन संघर्ष आध्यात्मिक तत्त्व की ओर था, अस्तु, यहां पाठकों के लिये यह दर्शाना है कि जिस समय मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होना प्रारम्भ हुआ उस समय जब २ मानवी बुद्धि प्राकृतिक रहस्यों को न समझ पाई तो उनमें अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उठने लगे। प्रकृति के गूढ़ रहस्य बड़े जटिल थे और उनको समझ लेना असम्भव नहीं तो नितान्त कठिन अवश्य था। मानव ने सूर्य के तेज, चन्द्रमा की शीतल चान्दनी, तारागण से परिपूर्ण नभमण्डल, क्षितिज की रेखा तक फैले हुए महासागर, हरे भरे विस्तृत अरण्य और गगनचुम्बी पर्वतों की ओर अपना मस्तिष्क दौड़ाया और उनमें जीवन की सुन्दरता और मानवता के माधुर्य को व्यापक रूप में पाया। प्रकृति की इन विभूतियों में उसने आकर्षण ही आकर्षण भरा पाया। इन प्राकृतिक आकर्षणों के कारण वह जीवन के महत्त्व को उत्तरोत्तर और अधिक समझने लगा और सांसारिक सुखों के लिये उसकी तृष्णा बढ़ने लगी। किन्तु इस सुखद अनुभव के साथ २ मनुष्य ने ज्वालामुखी पर्वतों का फटना, भुचाल आना, बादलों की भयानक गर्जना और उससे विद्युत् पतन, अतिवृष्टि के कारण जल-प्रकोप, और महामारी आदि अनेक भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति आदि अनेक विश्व का विध्वंस करने वाले प्राकृतिक कोप और विघ्नों को देखा और उनका कटु अनुभव किया। प्राकृतिक कोपों का सामना करने की बात तो दूर रही उनके वास्तविक रहस्य को समझना भी उसके लिये कठिन हो गया। मनुष्य ने अपना मस्तिष्क लड़ाया और प्रकृति के रहस्यों को समझने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु वे रहस्य शीघ्र ही समझ में आने वाले नहीं थे। उनके समझने के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता थी।

अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति

मानव सोचने लगा कि संसार में जहां अनेक सुन्दर आकर्षक हैं वहां भयानक पदार्थों की भी कमी नहीं। जीवन में माधुर्य है तो [illegible] पन उस से भी अधिक छिपा पड़ा है। संसार में सुख है तो दुःख का भी अन्त नहीं। आज जहां सृष्टि फली फूली है कल वहां किसी प्राकृतिक कोप से संहार हो जाता है। कुछ क्षण पूर्व ही जो लोग मुस्कराते थे कुछ क्षण बाद ही वे रोते चिल्लाते दिखाई देते हैं। आज जो क्रीड़ास्थल है अल्प समय के पश्चात् ही वह श्मशान घाट बन जाता है। आज जहां रंगरलियां मनाई जा रही हैं कल वहां उजाड़ हो जाता है। एक घर में जीवन की कलियां खिल रही हैं तो दूसरे पड़ोस के ही घर में मृत्यु की भयानकता दृष्टिगोचर होती है। यह सब क्यों? संसार में इतनी बड़ी विषमता क्यों? क्या इस प्रकार के विषमतापूर्ण विश्व को किसी शक्तिविशेष ने पैदा किया था या यह किसी ने उत्पन्न नहीं किया किन्तु अनादिकाल से ऐसा ही था और ऐसा ही चला आया है? यदि किसी शक्तिविशेष ने संसार को उत्पन्न किया तो ऐसी भयानक विषमता क्यों रखी? यदि इस का कर्ता या संचालक कोई नहीं तो इस की नियमित व्यवस्था किस प्रकार चल रही है? क्या यह विश्व की मर्यादित व्यवस्था भी अनादिकाल से यंत्रवत् चली आ रही है? यह दृश्यमान चराचर संसार क्या इसी रूप में सदा स्थिर रहेगा या इस का कभी पूर्णरूप से संहार भी हो जाता है? यदि संहार हो जाता है तो क्या यह सर्व हो जाता है या उस का भी कोई स्रष्टा होता है? इन [illegible] प्रश्नों के अतिरिक्त मानव के मस्तिष्क में [illegible] के विषय में भी [illegible] [illegible] होता है और

वह अहंकार तत्व भी क्या संसार के अन्य पदार्थों की भाँति उत्पन्न और नाश होता है या वह अनादि और अविनाशी तत्व है ? यदि वह तत्व अनादि और नित्य है तो उस का सम्बन्ध संसार के सादि अनित्य या नाशवान् पदार्थों से क्यों और कैसे सम्बन्ध हुआ ? इस प्रकार अनेक जटिल और दुर्विगम्य प्रश्न मानवी बुद्धि के विकास काल में मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए। विश्व के भिन्न २ प्रदेशों के मानवों ने इन प्रश्नों का मनन किया और विश्व के बाह्य तथा आन्तरिक रहस्यों को समझने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया। अनेक युगों के चिन्तन और मनन के पश्चात् मनुष्य ने आत्म तत्व के रहस्य को समझा और ईश्वरीय सत्ता की स्थापना हुई। दीर्घकाल के मनन के पश्चात् मानव इस निर्णय पर पहुंच गया कि इस बाह्य संसार से परे आन्तरिक संसार में कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सत्ता है जिसको ईश्वर कहना चाहिये। उस सत्ता को जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है संसार के भिन्न २ धर्मों के विद्वानों और आचार्यों ने अपने २ भिन्न २ दृष्टिकोण से अवश्य माना किन्तु ईश्वर की सत्ता को सबने स्वीकार किया। संसार के धर्मों और सम्प्रदायों की संख्या तो बहुत बड़ी है और उन सबकी ईश्वर विषयक मान्यता यहां नहीं दी जा सकती। यहां तो केवल वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारत के महान् धर्मों के ईश्वर विषयक मन्तव्य ही संक्षेप से दिये जाएंगे।

वैदिक मन्तव्य।

वैदिक धर्म भारत का एक विशाल और व्यापक धर्म रहा है। अतिप्राचीन वैदिक संस्कृति के आधार पर ही वैदिक धर्म से अनेक नए सम्प्रदाय निकले और नई २ दार्शनिक शाखाओं का जन्म हुआ। उन सम्प्रदायों और शाखाओं की संख्या तो बहुत बड़ी है। अतः उन

सब पर यहां विस्तारपूर्वक से नहीं लिखा जा सकता। यहां तो पाठकों के साधारण ज्ञान के लिये केवल वेद, वेदान्त दर्शन, सांख्य और न्याय-दर्शन के ईश्वर विषयक सम्बन्धों पर ही संक्षेप से प्रकाश डाला जायगा।

वेद में ईश्वर सत्ता।

वैदिक धर्म का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। चारों वेदों में भी ऋग्वेद ही प्राचीनतम है। इस वेद के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि इसके रचनाकाल के या मान्यता के समय ईश्वर विषयक खोज का इतना प्राबल्य नहीं था जितना कि बाद में हुआ। हां ऋग्वैदिक काल में लोगों के ईश्वर के विषय में और सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में क्या विचार थे वे भलीभांति समझे जा सकते हैं। उस काल में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों पदार्थों को अनादि माना जाता था। नीचे लिखा मंत्र इसकी साक्षी देता है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥*

अर्थात्—"जैसे दो समान आयुवाले और मित्रतायुक्त पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार दो अनादि और मित्रतायुक्त आत्मा अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा अनादि प्रकृति में रहते हैं। इन दोनों में से एक (अर्थात् जीवात्मा) इस प्रकृतिरूपी वृक्ष के फल को चखता है (अर्थात्—सुख दुःख भोगता है जो भौतिक शरीर में बंधने का परिणाम है) और दूसरा परमात्मा इसके फल को न खाता हुआ (अर्थात्—सुख दुःख न भोगता हुआ) इस वृक्ष पर बैठा हुआ प्रकाशमान हो रहा है।"

---

* [illegible]

इस प्रकार वेद में प्रकृति, जीव और परमात्मा इन तीनों तत्वों को अनादि माना है। इनमें प्रकृति जड़ है परन्तु ईश्वर और जीव दोनों चेतन हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है किंतु जीवात्मा की शक्ति शरीर तक ही सीमित है। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीवात्मा अल्पज्ञ है। जीवात्मा अनेक प्रकार के सुख दुःखों के बंधनों में जकड़ा हुआ है किंतु परमात्मा सब प्रकार के बंधनो से मुक्त है।

ईश्वर ही सृष्टिकर्ता है।

वेद की मान्यता के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता धर्ता है। वेद सृष्टि को अनादि नहीं मानता किंतु उसका मन्तव्य है कि किसी खास समय में ईश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न किया और एक ऐसा भी समय आयगा जब वह सारी सृष्टि का संहार कर देगा। संहार के बाद सारी सृष्टि उसी में लीन होजाएगी। ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहो रात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

ऋग्वेद मं० १०, सू० १९०।

अर्थात्—'सृष्टि विकास से पूर्व ईश्वर ने अपने ज्ञान और पराक्रम से प्रथम अनादि उपादान कारण को प्रकट किया। उस समय दिव्य रात्रि थी। उसके पश्चात् आकाश व अन्तरिक्ष की स्थापना की। आकाश स्थापित करके सांवत्सरिक गति पैदा की गई। फिर संसार को वश में करने वाले परमात्मा ने दैनिक गति की उत्पत्ति की जिससे

रात्रि और दिन होते हैं। संसार के धारण करने वाले सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा आकाश के अन्य नक्षत्रों को उनके मध्यवर्ती अन्तरिक्ष सहित उसी प्रकार रचा जैसा उसने पूर्व कल्प में रचा था।'

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में संसार की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है:—

> ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
> स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुरः॥
> तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
> पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥
> तं यज्ञं बर्हिषी प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
> तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

अर्थात्—'तब एक प्रदीप्त पिण्ड उत्पन्न हुआ। उसका अधिपति सर्वव्यापक परमात्मा था। तत्पश्चात् उस प्रदीप्त पिण्ड से पृथ्वी तथा अन्य शरीर पृथक् हुए। उस सर्वपूज्य परमेश्वर ने वनस्पति पैदा की जो भोजनादि के काम में आती हैं। उसने पशु बनाए जो हवा, जंगल और बस्ती में रहते हैं। उसने मनुष्यों को उत्पन्न किया जिनमें विद्वान् और ऋषि लोग भी हुए जिन्होंने उस सनातन और उपास्य परमात्मा की पूजा की।'

ईश्वर अनादि है, इस सृष्टि का कर्ता है और संहर्ता है यह उपर्युक्त वेद मंत्रों से स्पष्ट है। संसार के निर्माण की पद्धति का वर्णन भी आर्ष ग्रन्थों में किया गया है। ईश्वर से ही यह सारा संसार उत्पन्न हुआ और प्रलय में संहार के पश्चात् उसी में यह लीन होजाता है इसी

तत्व की पुष्टि आगे चलकर उपनिषदों ने भी की है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि:—

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

"अर्थात्—जिस प्रकार मकड़ी जाले को अपने शरीर में से बनाती है और अन्त में फिर उस जाले को अपने में ही आकुञ्चित कर लेती है; और जैसे पृथ्वी से अनेक प्रकार की औषधियें पैदा होती हैं और अन्त में सभी पृथ्वीरूप ही होजाती हैं; जैसे चेतन पुरुष से केशादि की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार अक्षर, अविकृत और अविनाशी ईश्वर से सारे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में सारा विश्व उसी ईश्वर में लीन होजाता है।

वेदान्त दर्शन में ईश्वर।

वैदिक धर्म की जितनी भी दार्शनिक शाखाएं हैं उन में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का स्थान बहुत ऊंचा है। वेदान्तदर्शन में आत्म-तत्त्व और परमात्मतत्त्व की जो खोज की गई है वह बड़ी गंभीर है और वैदिक धर्म में वेदान्त मान्यता के अनुयायी चिरकाल से बहुत बड़ी संख्या में रहे हैं। जब सारा भारतवर्ष महात्मा बुद्ध के प्रभाव से बौद्ध धर्मावलम्बी होगया था उस समय वेदान्तदर्शन के महान् विद्वान् स्वामी श्री शंकराचार्य ने वेदान्तदर्शन प्रचार करके ही पुनः भारत में व्यापक रूप से वैदिक धर्म की स्थापना की थी। अस्तु, वेदान्त दर्शन की द्वैतवाद और अद्वैतवाद नाम की दो बड़ी शाखाएं हैं। ईश्वरीय या ब्रह्म की सत्ता को दोनों मानते हैं किन्तु दोनों में सैद्धान्तिक भेद काफी है।

है किन्तु भिन्न २ पार्थिवांश का संयोग होने से भिन्न २ रस को प्रारम्भ करता है। वही जल निम्ब के पौधे को दिया हुआ कड़ुआ हो जाता है, अंगूर की लता को सींचने से मीठा हो जाता है और अफीम के पौधे में आकर कटु हो जाता है किन्तु जल वास्तव में एक ही है। चन्द्रमा एक ही है किन्तु तालाब नदी और समुद्रादि में प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक भासता है। ठीक इसी प्रकार एक ही ब्रह्म भिन्न २ जीवों के रूप में अनेक भासता है। जीवात्मा के लिये इस संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह अविद्या या माया के आवरण से आच्छादित है। उस आवरण के दूर होते ही वह ब्रह्मरूप होजाता है। यही अद्वैतवाद है।

सांख्य में प्रकृति और पुरुष।

वेदान्त दर्शन में जिस प्रकार ब्रह्म और माया की प्रधानता है इसी तरह से सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता है। अखिल चर और अचर, सृष्टि और संहार का विवेचन करने के पश्चात् सांख्य इस निर्णय पर पहुंचता है कि अन्त में पुरुष और प्रकृति ये ही दो स्वतंत्र तथा अनादि मूलतत्त्व अवशिष्ट रहते हैं। पुरुष को मोक्ष प्राप्ति तथा सब दुःखों की निवृत्ति के लिये प्रकृति से अपनी भिन्नता जाननी आवश्यक है और त्रिगुणातीत होना परमावश्यक है। जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार के परिणामस्वरूप ब्रह्म या पुरुष का निश्चय होता है इसी प्रकार चर एवं अचर जगत् के विचार के परिणामस्वरूप सत्व, रज, तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृति का ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हैं। पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़ [illegible] चेतन पुरुष का जड़ प्रकृति के साथ संयोग

होने से इस परिदृश्यमान जगत् की रचना होती है। वास्तव में पुरुष तो एक ही है किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के साथ संयोग होने से अनेकरूप में भासता है। पुरुष निर्गुण है और प्रकृति सगुण है। पुरुष के लाभ के लिये प्रकृति पुरुष के सामने अपना खेल खेलती है।

बहुत से विद्वानों ने प्रकृति पुरुष की सत्ता को मानते हुए उन दोनों से परे परमात्म तत्त्व की सत्ता को माना है। उनका कथन है कि प्रकृति और पुरुष ये परमात्म तत्त्व की ही विभूतियें हैं। महर्षि वेदव्यास सांख्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ गीता १५।१७

अर्थात्—जो पुरुष और प्रकृति इन दोनों से भी भिन्न है वही उत्तम पुरुष है। उसी को परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है। तीनों लोकोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा वही करता है।

यहां प्रकृति और पुरुष दोनों से परे एक तत्त्व को स्वीकार किया गया है जो दोनों से श्रेष्ठ है और इसी कारण पुरुषोत्तम है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम इनको क्रमेण जगत्, जीव और ईश्वर माना है।

न्याय शास्त्र में ईश्वर की परिभाषा।

न्याय सिद्धान्त में ईश्वर को निराकार, सर्वज्ञ, जीव के अदृष्ट का अध्यक्ष, नित्य, अनन्त और नित्य [illegible] माना है। यह [illegible] और [illegible], [illegible] से [illegible] है। सूत्र [illegible]

कर्ममार्ग से, भक्तिमार्ग से, योगमार्ग से और ज्ञानमार्ग से उपास्य है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं दर्शन भी उसकी उपासना के प्रकार हैं। सर्वकर्मप्रवर्तक उस ईश्वर के अनुग्रह के बिना मनुष्य का कोई कर्म भी सफल नहीं हो सकता। नैयायिकों का कहना है कि कर्म अचेतन है अतएव उसकी शक्ति का भी अचेतन होना स्वाभाविक है। अतः किसी चेतन के अधिष्ठातृत्व के अभाव में कोई भी प्राणी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मफल देने के लिये ईश्वर की सत्ता का मानना परमावश्यक है। महर्षि गौतम लिखते हैं:—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफलदर्शनात्। (गौतम सूत्र)

अर्थात्—पुरुषों के अनेक कर्मफलों को देखते हुए हमें ईश्वर की कारणता का स्पष्ट ज्ञान होजाता है। इस मान्यता के विद्वानों का कहना है कि जीवात्मा में अधर्म, मिथ्याज्ञान और प्रमाद ये दोष होते हैं। जिस आत्मा में ये सब नहीं पाए जाते किन्तु इनके स्थान में धर्मज्ञान और समाधि पूर्णरूप से पाई जाती है वैसा आत्मा ही ईश्वर है। सन्तान के लिये जिस प्रकार पिता यथार्थवादी, हितोपदेष्टा और दयामय है उसी प्रकार ईश्वर भी सब भूतों के लिये पितृतुल्य है।

इस प्रकार वेद की मान्यता के अनुसार ईश्वर अनादि है और सृष्टि का कर्ता है। वेदान्त में ब्रह्म और माया की व्यापकता, सांख्य में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता, और न्यायशास्त्र में पुरुष के कर्मफल प्रदाता ईश्वर की कारणता आदि संक्षिप्त विवरण से पाठकों को भली प्रकार पता चल गया होगा कि वैदिक धर्म की इन भिन्न २ शाखाओं में ईश्वर को और विश्व के स्वरूप को किस प्रकार समझा है और उसका प्रतिपादन किया है। सबके सिद्धान्तों के मार्ग भिन्न २ होते हुए भी सब ईश्वरसिद्धता करके एक ही लक्ष्य की ओर जाते हैं।

में रहते हैं। इस लिये जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व पद प्राप्त करने की शक्ति रहती है। यदि जीव कर्मों के आवरण से दबी हुई उस शक्ति का विकास करले तो स्वयं ईश्वर बन जाता है। इस प्रकार जैनधर्म ईश्वर तत्व को वैदिकधर्म के समान भिन्न स्थान नहीं देता किन्तु ईश्वर तत्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना को भी मानता है। जो जो आत्माएं कर्मबन्धनों से मुक्त होती जाती हैं वे सभी समान रूप से ईश्वर पद को पाती हैं। अविद्या या कर्म के आवरण के दूर होने से जीवात्मा ही ब्रह्म या ईश्वर बन जाता है इस विषय में वेदान्त और जैनदर्शन दोनों एक मत हैं।

ईश्वर सृष्टिकर्ता क्यों नहीं ?

यह पहले भी बताया जा चुका है कि जैनधर्म ईश्वर को संसार का रचयिता और शास्ता नहीं मानता है। जो लोग ऐसा मानते हैं उनके प्रमाण और युक्तियें जैन दृष्टि से सारगर्भित नहीं हैं। ईश्वर को संसार का कर्ता और शास्ता मानने वाले कुछ विद्वानों का कहना है कि केवल ईश्वर ही शाश्वत और अनादि है। उसके बिना संसार की कोई वस्तु अनादि नहीं। इनमें से भी कुछ लोगों का तो कहना है कि पहले कोई चीज़ नहीं थी, केवल ईश्वर था। ईश्वर ने नहीं से या अभाव से ही सारे संसार की रचना कर डाली। दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर ने अपने अन्दर से ही सारे संसार को उत्पन्न किया या बनाया। जैनधर्म के अनुसार ये दोनों मन्तव्य निःसार हैं। प्रकृति के अध्ययन से हमें पता चलता है कि संसार का कोई भी पदार्थ अभाव से पैदा नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ की कुछ पूर्वावस्था अवश्य होती है और किसी भी पदार्थ का सर्वथा अभाव नहीं होता।

जैन धर्म कहता है कि संसार अनेक प्रकार की भयानक महामारी आदि व्याधियों, भूकम्प, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों से होने वाली अकाल मृत्यु और [illegible] अनेक भयानक आपत्तियों से भरा पड़ा है। सुख का अंश कम है किन्तु दुःख से पीड़ित प्राणियों का क्रन्दन चारों ओर सुनाई देता है। क्या सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने ऐसे संसार को उत्पन्न करना ही पसन्द किया ? क्या वह सर्वशक्तिमान् होते हुए अपनी शक्ति से ऐसे संसार को उत्पन्न नहीं कर सकता था जो सुख, शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण होता ? ऐसी स्थिति में उसको भी नियन्त्रण करने की परेशानी न उठानी पड़ती। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने पहले तो संसार को अपूर्ण और शक्ति रहित बनाया और फिर उसके लिये पूर्णता तक पहुँचाने के लिये अनेक नियम धर्म बनाए। कोई साधारण बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी जान बूझ कर किसी वस्तु को पहले बुरी नहीं बनाता कि बाद में उसका सुधार करना पड़े। अतएव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने यदि इस संसार को बनाया होता तो अवश्य ही यह पहले से ही पूर्ण और समर्थ होता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि ईश्वर ने ही संसार को रचा है और इस कारण वह संसार का जनक या पिता है। संसार में जो लोग दुखी, रोगी, शोकाकुल और भूखमरी अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं वह ईश्वर उनके पूर्व कर्म का दंड [illegible] जिसका भोग टल नहीं सकता। जिस प्रकार पिता सद्गुणी [illegible] पुत्र को पुरस्कार देता है और दुष्कर्म करने वाले को अनुरूप दण्ड देता है इसी प्रकार ईश्वर जीवों को [illegible] बुरे कर्मों के अनुसार [illegible] देता है [illegible] शासन और नियन्त्रण नहीं करता है।

शक्तियों की निर्जरा होजाती है और आत्मा परमात्म पद को प्राप्त होता है।

सृष्टि की उत्पत्ति।

जैन धर्म के सिद्धान्त के अनुसार संसार की रचना सज्ञान और अज्ञान दो कारणों द्वारा होती है। या दूसरे शब्दों में छः द्रव्यों जीव या आत्मा, आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म इनके द्वारा होती है। इनमें से एक कारण जो, जैसे जीव सज्ञान अर्थात् ज्ञान वाला है और शेष पाँच कारण अज्ञान अर्थात् जड़ हैं। इन छहों द्रव्यों या वस्तुओं के अनेक पर्याय, गुण, या स्वभाव से ही संसार की रचना होती है। सज्ञान कारण का स्वभाव जान लेना है और बाकी के पाँच जड़ हैं जो [illegible] हैं। ये छहों द्रव्य अनादिकाल से विद्यमान हैं और रहेंगे। किसी खास समय में इनके संयोग से संसार की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु संसार अनादि है। इन छहों द्रव्यों की भिन्न २ परिवर्तनशील दशाओं, पर्यायों और परस्पर सम्बन्ध से संसार की सृष्टि होती है।

इन सारे द्रव्यों का व्यापार एक दूसरे पर पड़ता रहता है। इनमें उत्पन्न होने, नाश होने और स्थिर रहने की शक्ति है। इसी शक्ति को सत्ता भी कहा जाता है। यह सत्ता इन छः द्रव्यों में ही रहती है इनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। या दूसरे शब्दों में इस सत्ता का द्रव्यों से [illegible] सम्बन्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार को उत्पन्न या नाश करने वाली [illegible] छः द्रव्यों के अन्तर्गत ही विद्यमान है। [illegible]

स्थान पर या उस का पर्याय 'धर्म निकाय' शब्द मिलता है जिसे बुद्ध का शरीर भी कहते हैं। समता का बोध भी इसी से होता है। बौद्ध-धर्म ग्रन्थों में धर्म निकाय या बुद्ध का स्वरूप इसी प्रकार वर्णन किया है। बुद्धकाय की यह प्रकृति है कि वह दृश्यमान जगत् के अन्तराल में स्वयमेव व्यक्तिस्वरूप धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्व के बाहर स्थित नहीं रह सकता, बल्कि वह उस में निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम दृश्यमान संसार के पदार्थों की विभिन्नताओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तो हमें सर्वत्र धर्मकाय के सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता और इस तरह से हमें वस्तुओं की समता स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

दृश्य जगत् की यथार्थता और नानात्व को मानने के साथ २ बौद्धधर्म की यह मान्यता है कि जितने भी पदार्थ हमें दिखाई देते हैं वे सब एक अन्तिम कारण से उत्पन्न होते हैं जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है। यह जगत् उस कारण, आत्मा अथवा जीवन का व्यक्त स्वरूप है। भेद के सद्भाव में भी सांसारिक सभी पदार्थ परमतत्त्व के स्वभाव से युक्त होते हैं। अतएव ईश्वर जो इस जगत् में नहीं है वह असत् है; और जगत् जो ईश्वर में नहीं है वह मिथ्या है। संसार के सब पदार्थ एक ही तत्त्व में लीन हो जाते हैं और एक ही तत्त्व अनेक पदार्थों के रूप में कर्म करता है। अतएव अनेक एक में है और एक अनेक में है। संसार और परमात्मा के विषय में बौद्धों का यही सिद्धान्त है। जिस प्रकार समुद्र की अनेक तरंगें और लहरें लहराती और उर्मिल होती हुई केवल एक जल के ही नित्य स्वरूप की ही विभिन्न गतियां हैं इसी प्रकार संसार की सब क्रियायें भी भिन्न २ रूप से भासने पर भी एक ही तत्त्व की प्रतिबिम्बमात्र हैं। इस से भिन्न पदार्थ

अच्छी प्रकार समझ कर होंगे कि जैसे अद्वैतवाद में अनादिनित्य प्रकाशवान सूर्य की सत्ता मानी है और संसार के सब आत्मा उसी एक तत्व के प्रकाश हैं और उस से अभिन्न हैं ठीक उसी प्रकार बौद्धधर्म के उपर्युक्त सिद्धान्त में भी आत्मत्व का प्रकाश एक ही तत्व से आता है जो आत्मत्व से भिन्न नहीं है।

एकाग्र ध्यान की प्रधानता।

बौद्धधर्म की एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। इस में किसी वस्तु को जानने के लिये उस के लिये तर्क, दर्शन या वादविवाद को महत्व नहीं दिया जाता किन्तु अपने एकाग्र ध्यान से उसे समझने पर ज़ोर दिया जाता है। किसी अनुभव में न आई हुई वस्तु पर उस के अस्तित्व या अच्छेपन पर तर्क करना या उसे विवाद का विषय बनाना, या किसी तत्व पर केवल श्रद्धा के भाव रखना सर्वथा मूर्खता मानी है। यदि ईश्वर है तो उस के लिये प्रश्नोत्तर करना व्यर्थ है किन्तु मनुष्य को चाहिये कि वह स्वयं अपने अनुभव से जो ध्यान द्वारा जाना है उसे समझे। यदि आत्मा ही परमात्मा है तो इस भावना को ध्यान से कार्यरूप में परिणत करना या इसे केवल 'अमुक वस्तु ऐसे है' ऐसी श्रद्धा या विश्वास करने से कोई लाभ नहीं। बौद्धदर्शनों में अधिकतर ज़ोर ध्यान पर ही दिया है। बौद्धधर्म की मान्यता है कि धर्म का अर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं। इस लिये धार्मिक पुरुषों को सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिये, छाया की नहीं। प्रकाश की गवेषणा करनी चाहिये, प्रतिबिम्ब की नहीं। अतः वास्तविक तत्व की खोज और ज्ञान के लिये ध्यान को ही प्रधानता देनी चाहिये विवाद और तर्क को नहीं।

इस प्रकार अन्त में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धों ने केवल धम्म को महान् तत्व माना है और ईश्वर के [illegible] के [illegible] है। जब वे सब इस तत्व के अनुकूल चलते हैं तो सुरक्षित हैं और जब अहंकार और अज्ञान के वश इस से विपरीत चलते हैं तो नाश को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारतीय महान् धर्मों के ईश्वर विषयक संक्षिप्त विश्लेषण से पाठकों को भली प्रकार पता चल गया होगा कि तीनों धर्मों में ईश्वर का क्या स्थान है और तीनों किस २ रूप में उस की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

श्रमण-संस्कृति का स्वरूप

श्रमण संस्कृति भारत की अतिप्राचीन संस्कृति है। जैन और बौद्ध ये दोनों श्रमण-संस्कृति की ही भिन्न २ शाखाएँ हैं। श्रमण शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों के साधुओं के लिये किया जाता है। यहाँ श्रमण-संस्कृति से जैन संस्कृति समझना चाहिये। वर्तमान समय में तीर्थंकर धर्म के अनुयायियों के लिये जो जैन शब्द का प्रयोग प्रचलित है वह विक्रम संवत् १००० के लगभग ही प्रयोग में आने लगा। उसके पूर्व इस धर्म को श्रमण धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्वामी से लेकर जो परम्परागत प्रवचन चला आता है उसको मानने वालों को श्रमण-धर्मावलम्बी कहते हैं। तीर्थंकर भगवान् का दूसरा नाम जिन है जिसके अनुयायी वर्तमान समय में जैन कहलाते हैं।

संस्कृति की परिभाषा

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द बन जाता है। [illegible] चराचर सारे विश्व में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसको कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक होता है और यही विवेक [illegible] है। इसके अतिरिक्त संस्कृति का पूर्ण अर्थ समझने के लिये [illegible]

भी परमावश्यक है। संस्कार का अर्थ है किसी वस्तु को शुद्ध करना या उसके आन्तरिक प्रकाश को प्रकट करना। निस्सन्देह संस्कारों की उत्पत्ति और सम्बन्ध बाह्य जगत् से भी बहुत है किन्तु वास्तव में संस्कारों का उद्देश्य मानसिक और आध्यात्मिक होता है। जब हम किसी मनुष्य को कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है तो हमारा अभिप्राय उसकी बाह्य बातों से नहीं होता किन्तु हम देखते हैं कि उसका मन और आत्मा कितने ऊपर उठे हुए हैं या विकसित हो चुके हैं। यही कारण है कि सुसंस्कृत मनुष्य मन और आत्मा के उत्थान के कारण सदा सत्कर्मों की ओर ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार संस्कृति मानव का आन्तरिक गुण है और इसके विकास से ही मानव जाति के सारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक व्यवहार सुचारु रूप से चल सकते हैं। संस्कृति ही मानव को मानवता की ओर ले जाती है।

संस्कृति और सभ्यता।

बहुत से सज्जन इन दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं किन्तु वास्तव में दोनों में महान् भेद है। संस्कृति मानव की आन्तरिक वस्तु है और सभ्यता बाहर की। संस्कृति मानव को आध्यात्मिकवाद की ओर ले जाती है और सभ्यता प्रकृतिवाद की ओर। अतएव यह आवश्यक नहीं कि जो लोग सभ्य हों वे सुसंस्कृत भी अवश्य होंगे। अतः श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजकाचार्य ने इसका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है* :—

"जब हम यह कहते हैं कि जर्मन जाति सभ्य है, तो इसका

* देखो कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक पृ० ९६४।

अर्थ यह है कि इस जाति [illegible] दैनिक जीवन में [illegible] [illegible] [illegible] व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीर को अधिक से अधिक सुख और मज़ा मिले। अमरीकन लोग बड़े सभ्य हैं; क्योंकि वे बिजली से खाना बनाते हैं और ट्रैक्टरों द्वारा खेती करते हैं। उनके यहां हल के जैसी कोई बला नहीं, और उनकी आबादी के प्रत्येक चौथे व्यक्ति के पास अपनी मोटरकार है। जो जातियां सदा वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करती हुई अपने जीवन स्तर को ऊँचा बनाती चली जाती हैं, वे जातियां सभ्य कहलाती हैं अंगरेज़ी भाषा में सभ्यता के लिये 'Civilization' शब्द का व्यवहार किया जाता है। इन जातियों की जीवन आवश्यकताएं उत्तरोत्तर बढ़तीं जाती हैं और बढ़ती रहेंगी; क्योंकि इन का मुंह सभ्यता की ओर है। ये प्राकृतिक पदार्थों तथा भोगों के अन्दर ही सुख शान्ति की तलाश करती हैं, जिस का कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातियों के पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'कल्चर' भी है किन्तु वह सभ्यता के पीछे २ दास की चेरी बन कर चलती है। वे सुन्दर चित्र बनाएंगे, कलाकारों को उत्साहित करेंगे, कवियों को पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उन में निवास करेंगे, अपनी बोल चाल में होटलों तथा दुकानों में उन की भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। [illegible] [illegible] के द्वारा '[illegible]' को [illegible] और दूसरों की [illegible] में है [illegible] दूसरे शब्दों में वह [illegible] है। किन्तु अपनी सभ्यता को आगे बढ़ाने के लिये प्राकृतिक [illegible] का मज़ा लूटने के लिये उन का [illegible] प्रभाव पड़ता है। उन की इस [illegible] होने के कारण से [illegible]

जातियों को अपनी छल लपेट में ले लेते हैं और कच्चे मालकी खोज में पृथ्वी को रौंद डालते हैं। पक्का माल बेचने के लिये सब प्रकार के दाँव-पेंच, छल प्रपञ्च काम में लाते हैं। यहां तक कि युद्ध के रौरव नरक से भी नहीं डरते।

अब आइये संस्कृति की ओर, जिस पर मानव की मानवता पूर्णरूप से निर्भर है। संस्कृति है आत्मा की वस्तु, आत्मिक उत्थान का चिन्ह, आत्मिक उत्कर्ष की सीढ़ी और आत्मदर्शन का मार्ग। सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है परा विद्या। यदि हमें इन दो शब्दों का लक्षण अंग्रेजी भाषा में दो टूक करना पड़े तो हम उसे इस प्रकार करेंगे—

(Civilization is an expression of flesh, while culture is tne manifestation of soul.

अर्थात्:- सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जब कि संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। सभ्यता का उत्थान मानव को प्रकृतिवाद की ओर ले जाता है, जब कि संस्कृति मानव को अन्तर्मुखी करके उस के सात्विक गुणों को प्रकट करती है।"

श्रमण संस्कृति की विशेषताएं।

श्रमण संस्कृति प्राणीमात्र के प्रति समता रखने का उपदेश देती है। विश्व के सब जीवों के प्रति दया रखना और उनका कल्याण चाहना श्रमण संस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। इसकी दया की सीमा केवल जंगम संसार के प्राणियों के लिये ही सीमित नहीं अपितु स्थावर संसार के जीवों के लिये भी प्रसारित है। अपने सुख दुःख के समान ही

संसार के सब जीवों के सुख दुःख को समझना चाहिये, यह सन्देश श्रमण संस्कृति ने संसार को दिया है। श्रमण संस्कृति का समग्र कर्मकाण्ड समता के उपदेश से अलंकृत है। जैन धर्म के बाह्य, आभ्यन्तर, स्थूल और सूक्ष्म जितने भी आचार विचार हैं सब समता के आदर्श की ओर ही इंगित करते हैं।

कर्म विपाक।

श्रमण संस्कृति के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा चाहे वह स्थावर संसार में वनस्पति की देह में हो, चाहे कीड़, पतंग या पशु पक्षी के शरीर में हो और चाहे मानव की देह में हो तात्त्विक दृष्टि से समान है। छोटा या बड़ा आकार शरीर का हो सकता है आत्मा का नहीं। आत्मा सब प्राणियों में समान है। जीवों में जो शारीरिक और मानसिक विषमता दृष्टिगोचर होती है वह कर्ममूलक है। जैसा-जैसा जीव उत्तम या अधम कर्म सींचता रहता है वैसा-वैसा ही उसको फल भोगना पड़ता है। कर्म के अनुसार ही जीव भिन्न-भिन्न अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेता रहता है। कर्म के अनुसार ही उसे सुख या दुःख मिलते हैं। जीव जैसा २ कर्म करता है वैसा ही उसका संस्कार बनता है और उस संस्कार के अनुसार ही उसके अन्तःकरण की वृत्ति बनती है। उस वृत्ति के अनुसार ही जीव की भिन्न २ विषयों में प्रवृत्ति होती है। अतएव यदि कर्म उत्कृष्ट हो तो आध्यात्मिक पथ की ओर बढ़ने लगता है और यदि कर्म निकृष्ट हो तो जीव पतन की ओर बढ़ता है। क्षुद्र से क्षुद्र योनि में पड़ा हुआ जीव भी उत्तमकर्मों के परिणाम स्वरूप मानव योनि में जन्म ले सकता है और मानव-योनि में पड़ा हुआ जीव निकृष्ट कर्मों के प्रभाव से

कुत्सित योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार ऊँच नीच योनि, सुख दुःख और जन्म, मरण आदि सबका आधार कर्म ही है। वैदिक तथा अन्य बहुत से धर्मों में कर्मों का नियन्त्रण ईश्वरीय सत्ता के आधीन माना है किन्तु श्रमण संस्कृति उससे सहमत नहीं। जैन दर्शन के अनुसार जीव को कर्मों का फल भुगताने के लिये किसी ईश्वर जैसी सत्ता की आवश्यकता नहीं समझी गई। अनादि और अनन्त संसार में जीव और अजीव नाम के दो प्रधान पदार्थ हैं। जीव चेतन है और अजीव जड़। जीव सिद्ध और संसारी दो प्रकार का है। सिद्धावस्था जीव का शुद्ध स्वरूप है। संसारी जीव कर्म बन्धन से बंधा हुआ है। दृश्यमान पदार्थ पुद्गल द्रव्य के भिन्न २ रूप हैं। जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर पुद्गल द्रव्य की ओर प्रवृत्ति करता है और उन पर अज्ञानवश आसक्त होजाता है तो आत्मा में राग भाव उत्पन्न होता है और उस राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राग से ही द्वेष रूप विकारी भावों से आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग सम्बन्ध होजाता है और राग द्वेष रूप चिकनाहट के कारण कर्मरज आकर जीव के साथ चिपट जाती है। राग द्वेष के अभाव में कर्मबन्धन नहीं हो सकता। जिस प्रकार मद्यपान से नशा स्वयं आजाता है। इसी प्रकार कर्मों का भी जीव के साथ ऐसा बंध होता है कि कर्मों में अनुरूप फल प्रदान की शक्ति उत्पन्न होती है। जब २ जिस २ कर्म का उदय होता है तब-तब वह अपने स्वभावानुसार ही फल उत्पन्न कर देता है।

भौतिकवाद और आत्म-तत्त्व।

आगमों के सिद्धान्त अनादिकाल से मानव को आत्मा-

त्मिक उन्नति की ओर प्रेरित करते आए हैं। प्रकृतिवाद या भौतिकवाद की सदा ही भारत वर्ष के महर्षियों ने उपेक्षा की है। भौतिकवाद को ही सब कुछ मानने वाला आज का मानव भले ही उन महर्षियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखे, या उनकी बुद्धि को प्रकृतिवाद के क्षेत्र में अविकसित समझे किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उनकी ही दृष्टि विशाल जँचती है। यह ठीक है कि मानव जाति ने बहुत हद तक प्रकृति पर प्रशंसनीय विजय प्राप्त करली है। मानव वायुयानों पर आकाश में उड़ने लग गया है और महीनों की यात्रा घंटों में ही सुलभ होगई है। रेडियो यन्त्र के आविष्कार से घर पर बैठे ही सारे संसार के समाचार सुन सकता है। पनडुब्बियों में बैठ कर वह समुद्र के स्तल पर जासकता है और युद्ध-पोतों को तोड़ देता है। हवाई-जहाजों द्वारा एटम बम्ब गिरा कर वह कुछ क्षणों में प्रलय मचा सकता है किन्तु इन सब और अन्य अनेक प्रकार के भौतिक आविष्कारों से वह वास्तव में ऊँचा नहीं उठ पाया है। भौतिकवाद की इस उन्नति की ओर बढ़ने के परिणामस्वरूप ही विश्व को गत दो महायुद्धों की भीषणता का सामना करना पड़ा। और अब तीसरे महायुद्ध के बादल फिर मँडराते नज़र आरहे हैं। विश्व के किसी कोने में भी शान्ति नहीं है। सर्वत्र अशान्ति, भय, कलह और अत्याचार बढ़ रहे हैं। यह सब होते हुए भी भौतिकवाद का दास आज का मानव बड़ी शान से यह कहता है कि आज का युग विज्ञान का युग है, विकास का युग है और प्रगति का युग है। आज के युग में जो देश अधिक से अधिक संख्या में घातक शस्त्र अस्त्र तैयार कर सके और शक्ति के बल से निर्बल देश को हड़प कर सके उसको बहुत उन्नत और सभ्य देश समझा जाता है। यह बात कहां तक सत्य है यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। भारतीय आध्यात्म संस्कृति

के महर्षियों को इस प्रकार के भौतिक विकास निरर्थक प्रतीत हुए। यह बात असत्य है कि उनकी बुद्धि आधुनिक आविष्कारों तक पहुंच नहीं सकती थी। वास्तव में वे भौतिकवाद के दुष्परिणामों से भली-भांति परिचित थे इस कारण वे उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। इसी तथ्य की पुष्टि भारतीय तथा अन्य संस्कृतियों के मर्मज्ञ श्री अरविन्द जी ने इस प्रकार की है*:—

'आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुञ्जी है; अनन्तता की भावना उसकी सहजात भावना है। भारत ने आदिकाल में ही यह देख लिया और अपने तर्क बुद्धि के युग में तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञान के युग में भी उसने वह अन्तर्दृष्टि कभी नहीं खोई कि जीवन को केवल उसकी बाह्य परिस्थिति के प्रकाश में ही ठीक-ठीक नहीं देखा जासकता और न वह केवल उन्हीं की शक्ति से पूरी तरह बिताया जासकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियों की महत्ता के प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का सूक्ष्म बोध था; वह साधारण जीवन की कलाओं को सङ्गठित करना जानता था। परन्तु उसने यह देखा कि भौतिकता को अपनी पूरी सार्थकता तब तक नहीं प्राप्त होती, जब तक वह अतिभौतिक से ठीक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर लेती; उसने देखा कि संसार की जटिलता की व्याख्या मनुष्य की वर्तमान परिभाषाओं से नहीं की जासकती और न मनुष्य की स्थूल दृष्टि से समझी जासकती है, और यह कि विश्व के मूल में कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं तथा स्वयं मनुष्य के भीतर भी कुछ अन्य शक्तियां हैं, जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।'

इस प्रकार सामर्थ्य के सद्भाव में भी प्राचीन आचार्य बौद्धिक-

* देखो क॰ माघ का वि॰ स॰ अं॰ पृ॰ १००।

तत्वों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक तत्वों की ओर बढ़ने को ही मानव जाति को प्रेरणा करते थे। आत्मा की अनादि का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष था। संसार में चित् और अचित् या दूसरे शब्दों में चेतन और जड़ दो तत्व हैं। दोनों का उचित विचार ही विवेक है। चेतन का स्वभाव है कि वह जड़ पदार्थों को अपने काम में लाता है। जीवों की दो कोटियां हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवों में भी कुछ मन वाले, और कुछ मन रहित (त्रस और स्थावर) हैं। मुक्ति का साधन धर्म तत्व है और मुक्ति में प्रतिबन्ध डालने वाला तत्व अधर्म है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। पुण्य और पाप को मिला कर नौ भी माने जाते हैं। जो बन्ध का हेतु है वह आस्रव है। काया, वाणी और मन में आस्रव स्फुरित होता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण जीव में आस्रव के द्वारा उस का पुद्गल से योग होता है; वह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रवरूप संसार प्रवाह को रोकने वाला संवर है। यही संवर मोक्ष का कारण है। सम्यक् दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। ज्ञान और दर्शन तो आत्मा के अनादि अनन्त निज गुण हैं। मोक्ष प्राप्ति के बाद भी ये आत्मा के साथ ही रहते हैं। दर्शन और ज्ञान दोनों का नित्य सम्बन्ध है। चारित्र दोनों की पूर्णता की ओर प्रवृत्ति कराता है। इन तीनों के प्रभाव से जब सब कर्मों का क्षय हो जाता है तो आत्मा मुक्त हो जाता है। तब आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है। श्रमण संस्कृति सदा से मानव को इस सच्चिदानन्द स्वरूप मोक्ष की ओर बढ़ने की ही प्रेरणा करती आई है।

पञ्च महाव्रत।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह, ये श्रमण

संस्कृति के पांच प्रधान महाव्रत हैं। इन का विधान तो जैन जैनेतर कुछ भारत के प्रायः सभी धर्माचार्यों ने किया है परन्तु श्रमण धर्म इन के पालन पर विशेष ही ज़ोर देता है। इन पांचों के पालन करने से ही मानव मानवता की ओर कदम बढ़ा सकता है। किसी भी जीव को मन, वचन और काया से हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा श्रमण संस्कृति के प्राण हैं। इस का विस्तृत विवेचन 'अहिंसा परमो धर्मः' के प्रकरण में कर दिया है।

सत्य।

सत्य नामक दूसरे महाव्रत का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य पर चलता हुआ मानव ही पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन कर सकता है। सत्य बोलने और सत्याचरण करने आदि से आत्मा का उत्थान होता है। सत्य से आत्मा को बल मिलता है और और असत्य से आत्मा पतन की ओर जाता है। सत्य बोलने वाला व्यक्ति सदा निश्शंक और निर्भय रहता है और इस के विपरीत असत्यभाषी सदा पोल खुलने के डर से शंकित और सभय रहता है। असत्य की सदा अन्त में हार होती है और सत्य की जीत होती है। 'सत्यमेव जयते ना नृतम्' इस महावाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिये। जिस समाज, धर्म या जाति के लोग सत्य की उपेक्षा करते हैं वह समाज, धर्म या जाति कभी भी विवेक और नैतिकता के ऊँचे स्तर तक नहीं पहुंच सकती। अतएव सामाजिक जीवन को ऊँचा बनाने के लिये सत्यवादिता परमावश्यक है।

अस्तेय।

अस्तेय अर्थात् चोरी का त्याग। जो वस्तु अपनी नहीं उस पर

अधिकार नहीं करना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये इस तीसरे महाव्रत का पालन भी सुसंस्कृत संसार के लिये परमावश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे के अधिकारों का आदर करे और उनको अपने अधिकारों के समान समझे बलपूर्वक डाका डालकर या छुप कर चोरी करके यदि कोई व्यक्ति दूसरे के माल को छीने तो इससे सामाजिक व्यवस्था भंग होती है और आत्मा का पतन होता है। आजकल भी जो सबल राष्ट्र निर्बलों पर आक्रमण करके उनको उनकी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित करते हैं वे भी डाकुओं की ही कोटि में आते हैं। सबल निर्बल के अधिकारों को छीने यह अनधिकार चेष्टा है। अतः जीवन के आदर्श मार्ग की ओर बढ़ने के लिये इसका त्याग ही कल्याणकारी है। अस्तेय सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये मूल शिक्षा है।

ब्रह्मचर्य।

मनुष्य में अनेक प्रकार की वासनाओं और लालसाओं का होना स्वाभाविक है। विवेक द्वारा उन वासनाओं और लालसाओं पर नियन्त्रण रखना ही ब्रह्मचर्य है। जो व्यक्ति ऐसा नियन्त्रण नहीं रखता है वह विषयों के गड्ढे में ऐसा गिरता है कि फिर उसका उत्थान होना बड़ा कठिन होता है। विषयों का रसास्वादन बाहर से मधुर है किन्तु परिणाम में दुःखरूप है। इनका अधिक से अधिक उपभोग करने पर भी क्षुधा शान्त नहीं होती किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती है। आग में जिस प्रकार घृत डालने से वह अधिकाधिक प्रचण्ड ही होती है, ठीक इसी प्रकार विषयों के उपभोग से उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ती जाती है घटती नहीं। अतएव विवेकी मनुष्य विषयों के दुःखावह परिणाम को

सदा ध्यान में रखते हुए उनमें फंसते नहीं और उनका त्याग करना ही श्रेय समझते हैं। कुत्ते को जब सूखी हड्डी का टुकड़ा मिल जाता है वह उसको बड़े चाव से खूब चबाता है और उस हड्डी के तीक्ष्ण भाग के चुभने से उसके अपने मुँह से ही खून निकलने लगता है। वह कुत्ता यह समझकर कि रक्त हड्डी से निकल रहा है उसे और अधिक चबाता ही जाता है। ठीक यही दशा शास्त्रकारों ने विषय लम्पट पुरुषों की भी बताई है। विषयों के भोग से नाश तो उनका अपना ही होता है किन्तु वे समझते हैं कि रस विषयों से मिल रहा है। विषयों का ध्यान करने से किस प्रकार मनुष्य उत्तरोत्तर पतन की ओर बढ़ता है इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण गीता में खींचा है:—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

अर्थात्—विषयों का निरन्तर ध्यान करने से मनुष्य का उनमें लगाव हो जाता है। लगाव अर्थात् संग से काम की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से भूल होती है, भूल से स्मृति बिगड़ती है, स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

गीता के इन दो श्लोक रत्नों में मनोविज्ञान का कितना सुन्दर और सारपूर्ण चित्र खींचा है इसकी प्रशंसा किए बनती है।

अपरिग्रह ।

संसार के सुखों का अपनी इच्छा से त्याग कर देना, तृष्णा से विरक्ति, और अनेक वस्तुओं के संग्रह का मोह त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। मनुष्य जितना ही अधिक वस्तुओं का परिग्रह करता जाता है, उतना ही उसका उसके प्रति मोह बढ़ता जाता है और उस मोह का परिणाम सदा अशान्ति और दुःख होता है। अतएव जितना ही कम परिग्रह हो उतना ही मनुष्य निश्चिन्त, सुखी और प्रसन्न रहता है। सात्विक और सादा जीवन ही सुखकारी होता है। यदि संसार ने अपरिग्रह के महत्त्व को समझा होता तो आज जो पूंजिपतियों और साम्यवादियों में सङ्घर्ष चल रहा है और भयानक रक्तपात हो रहा है यह कभी न होता। श्रमण संस्कृति के अपरिग्रह आदर्श के अनुसार यदि संसार के लोग सादा जीवन व्यतीत करते और अपने भाइयों के शोषण से पूंजी इकट्ठी न करते तो यह स्वाभाविक था कि वह पूंजी केवल अल्प संख्यक मनुष्यों के पास न रहकर जन साधारण तक फैली रहती। ऐसी स्थिति में साम्यवाद जैसे सिद्धान्त का जन्म ही न हो पाता। अपरिग्रह के महत्त्व को न समझने के कारण ही आज मानव दानव बन रहा है। चोर बाजारी का बाजार गर्म है। परिग्रह के उपासक लोभी और लालची लोगों के कारण आज विश्व में असंख्य परिवार अनेक भयानक कष्टों के भार से पिस रहे हैं। आवश्यक जीवन के साधन भी दिन प्रतिदिन दुर्लभ हो रहे हैं और जीवन भार रूप बनता जा रहा है। किसी के पास इतना है कि वह व्यसनों में लगाता है और अधिक लोगों के पास इतना भी नहीं है कि वे सीमाखरूप से जीवन निर्वाह भी कर सकें। मानव और मानव में इस प्रकार का अत्यधिक विषमं अन्तर ही कलह और सङ्घर्ष का कारण है।

यदि सम्पन्न राष्ट्र और लोग परिग्रह के मोह को त्याग दें तो संसार की सब सामाजिक जटिलताएँ दूर होजाएँ और कठिन समस्याएँ सुलझ जाएँ। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति के महर्षि अनादि काल से विश्व को अपरिग्रहरूप महाव्रत का पालन करने का सन्देश देते आए हैं।

तप की प्रधानता।

उपर्युक्त पांच महाव्रत ही नैतिक आचरण के आधार हैं। इनको कार्यरूप में परिणत करने के लिये तपश्चर्या की आवश्यकता है। तप ही मानव को धर्म की ओर प्रवृत्त कराता है। तप दो प्रकार का माना है:—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य में (१) अनशन, (२) अवमोदरिका, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) संलीनता सम्मिलित हैं। आभ्यन्तर तप में (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। तपश्चर्या से आत्मशुद्धि होती है और अन्तःकरण के क्लेश की निवृत्ति होती है। इसके लिये सहनशीलता की नितान्त आवश्यकता है। भगवान् महावीर स्वामी ने तपश्चर्या के समय अनेक प्रकार के कायक्लेशों को अविचलित भाव से सहन किया। जब वे अनार्य देशों में विहार कर रहे थे तो अज्ञानी मनुष्यों ने उन पर कुत्ते छोड़े किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करते हुए वे अपने ध्यान में अटल रहे।

श्रमण संस्कृति में आत्मशुद्धि को जीवन का लक्ष्य माना है और इसी कारण से तपश्चर्या की प्रधानता है। जैन धर्म ग्रन्थ ऐसे अनेक उदाहरणों से भरे पड़े हैं जिनसे पता चलता है कि साधारण

व्यक्तियों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भी आत्मशुद्धि के लिये घोर तपस्या करते थे। महाकवि श्री वीरनन्दी जी लिखते हैं*:—

"मुनिवर के आगे विनय से सिर झुका कर चक्रवर्ती अजितसेन ने संक्षेप में कहा कि मैं आपके आश्रम में ही आने वाला था। पर मेरे पुण्यों के कारण आप यहीं आगए। जब मनुष्य दुर्गति में गिरने लगता है तब सेना आदि वैभव और बान्धव कोई भी आश्रय नहीं दे सकते। यह जानकर मेरा जी चाहता है कि मैं आपकी ही सेवा में रहूं। हे वरदायक, इसलिये प्रसन्न होकर आप मुझे अपनी दीक्षा दीजिये। क्योंकि आपकी थोड़ी सी भी कृपा शुभ करके अशुभ को मिटा देती है। सज्जनों का अनुग्रह क्या नहीं कर सकता? इस प्रकार राजा ने जब अपने हृदय की बात कहदी तब समर्थ राजा के साहस की परीक्षा करने के इरादे से मुनिवर ने उन्हें उनकी इच्छा से फेरने वाले वचन कहना शुरू किया। राजन्, कठिन शरीर वाले मुझ सरीखे साधु जन जिस दुष्कर तप की आंच नहीं सह सकते उसको तुम्हारे सरीखे कुंकुम लेप से लालित सुकुमार लोग कैसे कर सकते हैं? तुम दयालु, धर्म को ही धन समझने वाले और अपने वैभव को परोपकार में लगाने वाले हो। तुम्हारा चरित्र ऐसा नहीं है कि विद्वान् लोग उसकी निन्दा करें। तुम गृहस्थ हो, तब भी तुम्हारा आचरण तपस्वियों के ही समान है। इस लिये राजन्, आप दयालु, साधुवत्सल, मोक्षकामुक बने रहकर युग भर इस पृथ्वी का शासन करो। तुम इन अनाथ लोगों को पालो और बचाओ। दीनों को उबारने से बढ़कर और कोई तपस्या नहीं है। मुनि के इस प्रकार कहने पर दृढ़-संकल्प राजा ने मोक्ष के मार्ग में दृढ़ होकर फिर इस प्रकार अपने पक्ष का समर्थन आरम्भ

* देखो चन्द्रप्रभ चरित्र हिं० सं० पृ० २११, २१४।

किया—हे ईश, मैं परम पूजनीय जो आप हैं उनकी इस आज्ञा के विषय में फिर जो कुछ कहना चाहता हूं, उसका कारण जन्म-मरण के दुःखों का जञ्जाल ही है। इन जीवों को इष्टानिष्ट के वियोग संयोग से यदि दुष्ट पीड़ायें न होतीं तो जिनेन्द्रचन्द्र द्वारा धारण किये इस सत्य और महाकठिन महाव्रतों को कौन ग्रहण करता! यदि गृहस्थ रहने पर भी विचित्र दुःख देने वाला जन्म-मरण का चक्र मिट जाता है तो फिर आप जैसे विवेकी महापुरुषों का तप में परिश्रम करना वृथा ही ठहरा। जिन-दीक्षा में जिनका मन लगा हुआ है उन उदार चरित्र राजा के ये वचन सुनकर मुनिवर को यह निश्चय होगया कि इन्होंने सोच विचार कर यही दृढ़ निश्चय कर लिया है। तब उन्होंने राजा की प्रार्थना को स्वीकार किया। परिवार के बन्धन से मुक्त राजा ने मुनि की अनुमति पाकर अपने पुत्र को यह निष्कण्टक राज्य दे दिया।

उसके बाद उन्होंने परिग्रह छोड़ कर संयम का अलङ्कार रूप तप ग्रहण कर लिया। घोर तप करते हुए भयशून्य राजा पुरबाहर पर्यंकासन से स्थित रहकर हेमन्त की रातें बिताने लगे। धैर्य-वज्रधारी राजा वहीं पाले और ठण्डी हवा के वेग को सहते थे। भयानक सैंकड़ों उल्कापातों से दुस्सह और घोर वज्र-कड़ाकों से, अन्धकार फैला देने वाली वर्षाऋतु की रातों में [illegible] के पेड़ों की जड़ में बैठे हुए मूसलाधार पानी सहते थे। वे गर्मियों में सूर्य के सामने खड़े रहते थे। तपी हुई सूई के समान शरीर में चुभने वाली सूर्य की किरणों के लगने पर भी वे ध्यान से नहीं डिगे। कर्तव्यकाम कितना ही कठिन क्यों न हो उसे करने के लिये सज्जन लोग [illegible] रहते हैं।"

सामाजिक जीवन ।

वैदिक धर्म के सामाजिक जीवन में चार आश्रमों का विधान है । जैसे:—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ मनु० ६ । ८७

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, तथा सन्यासी ये चारों आश्रम अलग २ होने पर भी गृहस्थाश्रम से ही आयमान होते हैं ।

ठीक इसी प्रकार का मन्तव्य जैन धर्मग्रन्थों में भी मिलता है । जैसे:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तर शुद्धितः ॥

जिनसेन—आदि पुराण ।

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धि के लिये हैं ।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म में आश्रम व्यवस्था पर ज़ोर दिया है और कर्मकाण्ड में उसका पालन भी किया गया है इस प्रकार जैन धर्म में नहीं । जैनागमों ने चार तीर्थों के आचार विचार पर ही ज़ोर दिया है । जैन संस्कृति के आश्रम तथा अन्य धर्म ग्रन्थ तीर्थ विषयक कर्मकाण्ड से ही भरे हुए हैं । श्रमण संस्कृति में भक्ति, तपस्या, पालने के लिये चतुर्थाश्रम तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु जीव का संस्कार यदि उत्कृष्ट है तो किसी अवस्था में भी वह तपस्या का अधिकारी है । मेरे विचार से जैन पुराणों में जो आश्रम व्यवस्था का विधान है वह बहुत पीछे का है और यह जैन संस्कृति की अपनी चीज़ नहीं किन्तु वैदिक धर्म का ही जैन संस्कृति पर प्रभाव है ।

गृहस्थ धर्म ।

श्रमणधर्म निवृत्ति और तपप्रधान धर्म है इस कारण यह न समझना चाहिये कि इसमें गृहस्थमार्ग की उपेक्षा की गई है और उसका इसमें आदर नहीं है। वैदिक संस्कृति के समान श्रमण संस्कृति में भी गृहस्थाश्रम को धर्म की आधार शिला माना है। गृहस्थ के बिना धर्म की प्रवृत्ति और प्रगति नहीं हो सकती। केवल सिद्धान्त विधान मात्र से आत्मशुद्धि प्रधान तप की क्रिया नहीं हो सकती और नहीं केवल आगम ज्ञान के बोध से आचार विचार का पालन ही हो सकता है किन्तु सब प्रकार की धार्मिक क्रियाओं के लिये बाह्य साधनों की आवश्यकता रहती है जिनको गृहस्थ पूरा करता है। यही कारण है कि यत्र तत्र जैन धर्मग्रन्थों में 'गृहस्था धर्म हेतवः' और 'श्रावका मूलकारणम्' जैसे वाक्य मिलते हैं। इसी तरह की पुष्टि वैदिक महर्षि भी करते हैं:—

> सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः।
> गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥
>
> मनु० ३।७८

अर्थात्–समस्त आश्रमों में वेद और स्मृति की बताई हुई विधि के अनुसार चलने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि गृहस्थ ही इन तीनों आश्रमों की रक्षा करता है।

जैन धर्मग्रन्थों में गृहस्थ के लिये दो तरह के धर्मों का विधान मिलता है। वे हैं लौकिक और पारलौकिक। जैसे:—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ॥
(यशस्तिलक)

अर्थात्—गृहस्थों के लिये लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के धर्मों का विधान है। लौकिक धर्म लोकाश्रित अर्थात्—लौकिकजनों की देशकालानुसारिणी प्रवृत्ति के अधीन और पारलौकिक आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोंके अधीन बतलाया है।* सांसारिक व्यवहारोंके लिये आगम का आश्रय लेना भी बहुत आवश्यक नहीं समझा गया और साथ २ यह भी प्रतिपादन किया है कि जैनियों के लिये वे सम्पूर्ण लौकिक विधियां प्रमाण हैं जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा में कोई बाधा न पड़ती हो और न व्रतों में ही कोई दूषण लगता हो।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति में गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत ऊँचा और आदरणीय है।

विवाह।

विवाह करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। आदिपुराण में भगवज्जिन सेनाचार्य ने लिखा है कि जब युग के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने विवाह के लिये कुछ अनिच्छा प्रकट की तो उनके पिता नाभि राजा ने उनको समझाते हुए ये वचन कहे:—

त्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्तताम्।
महतां मार्गवर्तिन्यः प्रजाः सुप्रजसो ह्यमूः ॥ ६१ ॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु।
प्रजासंततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥ ६२ ॥
प्रजासंतत्यविच्छेदे तनुते धर्मसंततिः ।†

* विवाह समुद्देश्य पृष्ठ १० ।
† आदि पुराण पर्व १५ ।

अर्थात्—आदि पुरुष आपको देखकर लोग भी आपका ही अनुकरण करेंगे। प्रजाजन बड़ों के दिखाए मार्ग पर ही चला करते हैं। अतएव आप पत्नी के परिणयन की प्रार्थना को स्वीकार करें। ऐसा करने से सन्तानोत्पत्ति की श्रृङ्खला निरन्तर चलती रहेगी और उसके चलने से धर्म-सन्तति की वृद्धि होगी।

वर्ण-व्यवस्था के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि मूलतः श्रमण संस्कृति में वर्ण व्यवस्था कर्म से ही रही है किन्तु वैदिक-संस्कृति के साथ निरन्तर चिरकालीन सम्पर्क से यह उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। नीचे दिया उदाहरण इस सत्य की पुष्टि करता है। वैदिक-संस्कृति के अनुसारः—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

मनुस्मृति ३।१३

अर्थात्—शूद्रा ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं। वैश्य को वैश्य वर्ण वाली और और शूद्रा; क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा; ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार है।

ठीक ऐसा ही मन्तव्य जैन पुराणों में भी मिलता है। जैसे:—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्चताः॥ †

ठीक ऊपर जैसा ही अर्थ इसका भी है। कर्ममूलक श्रमण-संस्कृति पर यह जन्ममूलक संस्कृति का ही असर है और यह असर बहुत

† आदि पुराण।

प्राचीन नहीं किन्तु बहुत पीछे का है। श्रमण-संस्कृति वास्तव में कर्म-मूलक होने के कारण विवाह के लिये जातिपाति का कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं करती। विवाह में जातिबन्धन की प्रथा बहुत पीछे की है। शास्त्रों में असवर्ण विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित महापुरुष भीलों और म्लेच्छों आदि तक की कन्याओं से निस्संकोच विवाह कर लेते थे। एक ही गोत्र और एक ही परिवार में भी विवाह हो सकता था। श्री नेमिनाथ के चचा वसुदेव जी ने अपने चचाज़ाद भाई उग्रसेन की लड़की देवकी से विवाह कर लिया था।* मामा और फूफी की लड़की से विवाह तो आम प्रचलित था। दाक्षिणात्य ब्राह्मणों में तो इस प्रकार के विवाह आज भी प्रचलित हैं। परन्तु इस प्रकार के विवाह उस समय भी सार्वदेशिक नहीं थे। इसी कारण सोमदेव सूरि ने लिखा है:—'देशकुलापेक्षो मातुलसम्बन्धः।'

विवाहों में सबसे उत्तम स्वयंवर विवाह को माना जाता था। आदि पुराण में विवाह विधान के प्रकरण में स्वयंवर विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है।

जैसेः—सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥

अर्थात्—विवाह के जितने भेद हैं, उनमें स्वयंवर ही सबसे श्रेष्ठ है और श्रुति-स्मृतियों में इसकी महिमा है। अनादिकाल से विवाह का यही उत्तम मार्ग चला आता है।

स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि के अनुसार वर को चुनती है:—कन्या वृणीते रुचिरं स्वयंवरगता वरम्।

* विवाह समुद्देश्य पृ० १८।

कुलीनमकुलीनं वा क्रमोनास्ति स्वयंवरे ॥*

अर्थात्—स्वयंवर में गई हुई कन्या कुलीन और अकुलीन का विचार न करके अपनी इच्छा के अनुसार वर को चुनती है।

जैनकाल में बहु विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किन्तु परस्त्री की ओर दृष्टि डालना बहुत बुरा समझा जाता था। लोग अपनी २ प्रियतमाओं से ही सन्तुष्ट रहते थे।

श्रमण-संस्कृति के प्रवर्तक।

श्रमण संस्कृति के आदि प्रवर्तक कौन थे, वे कब हुए और किन-किन परिस्थितियों में उन्होंने इसकी नींव रक्खी इसका इतिहास से कुछ पता नहीं चलता। हाँ उपलब्ध 'आगमग्रन्थों' तथा अन्य साहित्य से यह स्पष्ट है कि नाभिपुत्र आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्वामी श्रमण-संस्कृति के महान् समर्थक थे। उन्होंने इसका सर्वत्र प्रचार किया। उन्होंने ही लोगों के लिये रहन-सहन के नियमों को बनाया और उन्हें पालन करने का ढंग सिखाया। जङ्गली जानवरों से आत्म-त्राण करने के लिये उन्होंने लोगों को शस्त्र बनाना सिखाया, और स्वयं तलवार हाथ में लेकर उन्होंने लोगों को उसका प्रयोग करना सिखाया। कर्ममूलक वर्ण व्यवस्था भी उन्होंने ही बान्धी। आदिराज ऋषभदेव ने ही कर्म को छे भागों में बांटा—(१) युद्ध, (२) कृषि, (३) साहित्य, (४) शिल्प, (५) वाणिज्य और (६) व्यवसाय। न्यायपूर्वक प्रजापालन के महत्त्व को भी उन्होंने ही तत्कालीन राजाओं को समझाया। उन्होंने तत्कालीन लोगों को लिखना पढ़ना सिखाया और कृषि के योग्य लोगों को कृषि करने का ढंग बताया।

* जिनदास हरिवंश पुराण।

अनेक प्रकार की शिल्पकलाओं का आविष्कार भी उन्होंने किया। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये उन्होंने अनेक नियम बनाये और अनुशासन तथा मर्यादा में रहकर उनका पालन करना लोगों को सिखाया। जब उन्होंने अनुभव किया कि उनका बड़ा पुत्र राज्यभार संभालने में और प्रजापालने में पूर्णरूप से समर्थ होगया है तो वे राज्यभार उस को सौंप कर और स्वयं सब कुछ त्याग करके चले गये और तपश्चर्या करने लगे। इस प्रकार अनादि परंपरा से चली आई श्रमण संस्कृति के निर्माण में आदितीर्थंकर श्री ऋषभ देव स्वामी का कितना हाथ है यह पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

श्रमण संस्कृति की महानता।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति का बाह्य रूप लोगों को भले ही आकर्षण करने वाला न लगे किन्तु उस का आन्तरिक स्वरूप बड़े ही महत्त्व का है। आन्तरिक स्वरूप के महत्त्व का कारण यही है कि इसकी आधारशिला आध्यात्मिकता है। संसार की अन्य संस्कृतियां बाह्याडम्बर, टीप टाप भौतिकवाद, राजनैतिक चातुर्य और कूटनीतिज्ञता में विश्वास करती हैं किन्तु श्रमण संस्कृति बाह्यरूप में सरलता, निःस्पृहता और अहिंसा में विश्वास करती है। श्रमण संस्कृति की नींव आध्यात्मिकता, तपस्या, त्याग, सत्य और विश्व प्रेम पर रक्खी गई है। पं० श्री राजीविलोचन जी अग्निहोत्री ने जो भारतीय संस्कृति पर निम्नलिखित पंक्तियां लिखी हैं वे श्रमण संस्कृति पर पूर्णरूप से घटित होती हैं:— *

"संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत् मान कर उन से प्रेम, करुणा, उपकार, क्षमा, अहिंसा, और सहिष्णुता का भाव

* हि सं. अं. पृ० ४१०।

रखना, उन के लिये अपने व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ, सुखोपभोग की लालसा; यश और प्रतिष्ठा की चाह का परित्याग करना, दूसरे के विनाश में अपना निर्माण देखने की लिप्सा समाप्त करना, घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धता को अपने जीवन में न आने देना तथा सामाजिक जीवन में भी उसे न फैलने देना; इन्द्रियों को संयम में कसकर अन्तः करण की पवित्रता की ओर बढ़ना. सत्त्वशुद्धि के लिये ही उपयुक्त जीवन-प्रणालीका निर्माण करना और द्वन्द्वों से ऊपर उठते हुए निष्काम भाव से कर्म करने की क्षमता प्राप्त करना यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्य की पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्वकी ओर उसे पुरस्सर करना भारतीय संस्कृतिका कार्य है।"

इस प्रकार आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि सभी जीवनके क्षेत्रों से श्रमण संस्कृति विश्वकी अन्य सस्कृतियोंमें बहुत ऊँचा स्थान रखती है। पांच महाव्रतों के संक्षिप्त विवरण से ही पाठक भली भाँति समझ गए होंगे कि श्रमण संस्कृति में मानव जीवन को अधो-गतिकी ओर लेजाने वाले हिंसा, असत्य, अनधिकार चेष्टा, असंयम और तृष्णा का कितना विरोध किया गया है। संसार में व्यापक रूपसे फैली हुई विषमता, स्पर्धा, कलह और अशान्त को मिटानेके लिये श्रमण संस्कृति ने विश्वके सामने अहिंसा, सत्य, समानता, संयम और त्याग के आदर्शों को रक्खा है। इन आदर्शों पर चलने से ही विश्व में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है और मानव जाति आत्म कल्याण की ओर बढ़ सकती है।